जैनजनतामें श्रीतत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा संग्राहकशास्त्र है कि वैसा जगतभरमें दूसरा संग्राहक शास्त्र ही नहीं है. उस शास्त्रका रचयिता धन्यनाम श्रीउमास्वातिवाचकजी जो अनूनदश-पूर्वके धारण करनेंवाले कहे जाते हैं, वे हैं. यह ग्रंथ और वे आचार्य दोनों श्वेतांबर समाजके ही हैं, परंतु दिगंबरोंने अपनी सदाकी दपटानेकी आदतसे इन दोनोंको भी दपटाये हैं. इससे श्रीकेशरीयाजीका तीर्थ दपटानेकी चेष्टा भी इन्होने की और उस वख्त तीर्थकी श्वेतांबरीय तरीके साबुती करके इस किताबकी उत्पत्ति आगमोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत्सागरानंदसूरीश्वरजीसे हुई थी, लेकिन 'चोर शिरजोरी करे' वैसा न्याय करके उन-लोगोंने अभी श्वेतांबरमतसमीक्षा करनेका साहस किया, इससे इस किताबको जाहिर करनेकी जरूरत हुई है. सभी श्वेतांबर व दिगंबर भाई इस किताबको मध्यस्थभावसे देखें और वीतरागके सच्चे मार्गमें स्थिर रहें व दाखल होवें, यही इस परिश्रमकी सफलताका मार्ग है. इत्यलम् ॥ वीरसंवत् २४६३ आपाढ शुक्ला ११

निवेदकः—

प्रकाशिका

अन्यदर्शनकारोंके अनुकरणसे

यह

तत्त्वार्थसूत्र

तर्कानुसारियोंके लिए बनाया होनेसे निम्न लिखित सूत्र

परीक्षाकी और अनुकृतिकी तौरसे किए गये हैं.

(१) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष ऐसा ज्ञाननय और क्रियानयके हिसाबसे अव्वल था. स्वदर्शनमें अदग्धदहनन्यायसे यह लक्षण था. इधर इतरकी व्यावृत्तिके लिए दर्शनपूर्वक और सम्यक्शब्दयुक्त लक्षण लिया शास्त्रोंमें शास्त्रोंकी आखिरमें ज्ञानादिकका मोक्षसाधनकी तरह विचार होता था, इधर प्रयोजनके हिसाबसे आद्यमें कहा. शास्त्रोंमें अयोगिपणाको मोक्षका कारण मानकर उसकी कारणपरंपराको भी साधन गिना और इधर इन द्वारपरंपराके ख्यालसे ही मार्गशब्द रक्खा. मार्गगमनमें अक्सर पूर्व पूर्वका प्रयाण उत्तर उत्तरको प्राप्त करानेवाल होता है, इसमें किसीभी गमनको अन्यथासिद्ध याने बेकाम नहीं कह सक्ते हैं।

(२) इतरदर्शनकारोंने जब अपने दर्शनमें और दुसरेमें मार्गशब्द लगाया तब इसमें भी मोक्षमार्गशब्दसे कहा गया. याने मोक्षशब्दके साथ मार्गशब्द शरीक किया गया है.

(३) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं इसका भेद दिखानेका सूत्र अलग रखकर यह सूत्र लक्षणकी तोरसेही अलग किया. अन्यथा 'निसर्गाधिगमाभ्यां तत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वं' इतनाही कह देते. दर्शनशब्दभी इसमें सूचक ही है।

(४) इतरदर्शनकारों केवल संहितादिसे व्याख्या मानते हैं, तब तत्त्वार्थकारने नामादिनिक्षेपसे व्याख्या दिखानेको नाम-स्थापना० सूत्र कहा।

(५) ज्ञानशब्दसे शुद्धज्ञान रखकर सामान्यसे बोध दिखानेके लिए अधिगमशब्द रख कर 'प्रमाणनयैरधिगमः' ऐसा कहा. या बोधशब्द नहीं रखके अधिगमशब्द अन्यदर्शनकी प्रसिद्धिसे होगा. कभी तीसरे सूत्रमें अधिगमशब्दसे भी उपदेश लिया गया है उसके संबंधसे प्रमाण और नयसे याने तन्मयवाक्योंसे उपदेश होता है ऐसा मान ले तब भी यही हुवा कि अन्यदर्शनकार अपनी प्ररूपणा प्रमाणसे है ऐसा मानते हैं, लेकिन ये लोग केवल नयादिसे ही प्ररूपणा करनेवाले हैं और जैनको तो प्रमाण और नय दोनोंसेही प्ररूपणा इष्ट है, इस तरहसे भी यह दर्शनके हिसाबसे सूत्र है।

(६) तत् प्रमाणे, और आद्ये परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत्, ये तीन सूत्र भी इतरदर्शनोंके अधिकारसे है।

(७) मत्यादिज्ञानोंका सूत्रोंमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे विषय दिखाया है, तब तत्त्वार्थकारने सिर्फ द्रव्य भात्र ही दिखाया, इसका भी क्षेत्र और कालको द्रव्य मान कर तर्कानुसारियोंकी अनुकूलताही तत्त्व है.

(८) अधिगमके कारणोंके दिखाते जो तीन सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' 'निर्देश०' 'सत्संख्या' ऐसे दिखाये हैं यह तर्कानुसारियोंके ही अनुकूलताके लिये है।

(९) इतरदर्शनशास्त्रोंमें पृथ्वी, जल, वायु और अग्निको जड माने हैं, लेकिन् इधर इनको सचेतन दिखाये हैं. वैज्ञानिकलोगभी वनस्पति और पृथ्वीको अब सचेतन मानते हैं।

(१०) अन्यमजहववालोंने इन्द्रिय और विषयके वैषम्यसे ही पदार्थज्ञानका वैषम्य माना है, लेकिन् भगवान श्रीउमास्वातिजीने पदार्थ और इन्द्रियकी वैषम्यता न होने पर भी ज्ञाताकी धारणाके कारणसेभी ज्ञानविषमता मानी है, अन्यमजहववालोंने भिन्न इन्द्रियका युगपत् ज्ञान हो जाय उसको रुकनेके लिये ज्ञानकी युगपत् अनुत्पत्तिके लिये अणु ऐसा मन मान लिया, और वह अणु ऐसा मन माना के जिस इन्द्रियके साथ संयुक्त हो उसका ज्ञान उत्पन्न होवे, ऐसा

मान लिया है, लेकिन एकही इन्द्रियसे अनेकविषयोंका ज्ञान होनेका मोका आजाय याने एकही स्पर्शनसे शीत, उष्णादि जाननेका, रसनासे तिक्तादि अनेकरस, चक्षुसे अनेक रूप और श्रोत्रसे अनेक शब्द जाननेका मौका आजाय तो फिर ज्ञाताकी धारणाको आगे करनीही होगी. इसीतरहसे वाचकजी महाराज फरमाते हैं कि जिसकी धारणा आत्मीयकल्याण के ध्येयवाली नहीं है वह मनुष्य अपना ज्ञान आत्मकल्याण ध्येयसे नहीं करके पौद्गलिकके ध्येयसे ही करता है, उस ज्ञानका प्रयोजनभी पौद्गलिकही सिद्ध करेगा, इससे उस पौद्गलिकध्येयवालेका ज्ञान अज्ञानही है. याने ज्ञानका सम्यक्पणा अच्छी धारणासे ही होता है; और अच्छीधारणावालेके ज्ञानका ही प्रमाण-विभाग दिखाया है।

(११) अन्यदर्शनकारोंके अनुकरणसे ही इस तत्त्वार्थकी रचना होनेसे ही तो 'सदसतो' इस सूत्रमें अन्यधारणा-वाले को उन्मत्त जैसा कटुशब्द लगाया है, याने अन्य-दर्शनकारोंका अयोग्य और असत्य प्रचार देखके ही इन अनुकरणकारको घृणा आइ होगी, और उसी घृणासे यह कठोर कथन हुआ होगा।

(१२) जैसे दीपकज्योति समान होने पर भी काचके रंगके अनुकरणसे ही भिन्न भिन्न प्रकाश होता है, इसी तरहसे

पदार्थ और इन्द्रियादिसे समान बुद्धिजन्म होने पर भी धारणाके रंगका अनुकरण ही बुद्धि करती है. इससे योग्य धारणा रहितको अज्ञानही माना, याने जैसे अन्धे आदमी पदार्थको न देखनेसे यथायोग्य दृश्यपदार्थके विषयमें हेयोपादेय प्रवृत्ति नहीं कर सक्ते हैं. उसी तरह मृगतृष्णाको जलस्थान माननेवाले की तरह भी या कंचनको पितल और पितलको कंचन दिखनेवाले आदमीभी यथायोग्य हेयोपादेय फलको नहीं पा सक्ते हैं. इसी तरह इधरभी स्याद्वादमुद्राकी और मोक्षध्येयकी धारणा नहीं रखनेवाला आत्मपक्षसे अबोध या दुर्बोध है, इससे उसके ज्ञानको अज्ञान मानके प्रमाणके हिसाबमें ही नहीं लिया है.

(१३) इतरदर्शनकारोंको स्याद्वाद मंजूर नहीं करना है इससे इनको उपक्रमसे सूत्रोंकी व्याख्या करनी नहीं है सब वस्तुको नामादिचतुष्कमय माननेवालाही उपक्रमादिकरूपसे व्याख्यान कर सके, इसी सबबसे भगवान् उमास्वातिजीने नामस्थापनादिका सूत्र कहकर चतुष्ककी व्यापकता दिखाई, उसी तरह अनुगमनामके व्याख्यानमें उपयुक्त ऐसे संहितादिभेद इतरदर्शनकारोंनें मंजूर किया, लेकिन स्याद्वाद मंजूर करने के डरसे ही उन लोगोंने नयकी दृष्टिसे व्याख्या मंजूर नहीं की है. यद्यपि एकनयदृष्टिसे वे सभी मत है ही, लेकिन परस्पर विरुद्ध ऐसे

नयोंका समावेश करके दूसरोंको व्याख्यान करनेका मोका होवेही नहीं, क्योंकि ऐसा करनेमें विरुद्धधर्मका समावेश करना ही पडे, इसी हिसाबसे इतरदर्शन नयसमूहको न तो मानते हैं और न भिन्नभिन्ननयसे पदार्थोंकी व्याख्या करते हैं, परंतु जैनशासनमें तो सूत्र या अर्थ कोई भी नयविचारणा सिवाय का नहीं है. इससे भगवान उमास्वातिजीने नयका विचार चलाया है. इसी अपेक्षासे ही आचार्य महाराज श्रीसिद्धसेनदिवाकर फरमाते हैं कि भगवान आपमें सब दृष्टि है, लेकिन् सबदृष्टिमें आप नहीं है. देखिये ! "उदधाविव सर्वसिंधवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥ १ ॥" याने नयवादके हिसाबसे जैनमजहबमें सब मजहब हैं, लेकिन अन्यमजहबमें जैनमजहब नहीं है, नयवादसे जब ऐसा है तब अतीन्द्रियपदार्थके हिसाबसे ऐसा है कि सभी मजहब द्वादशांगसेही है, और इसीसे द्वादशांग ही रत्नाकर तुल्य है, केवल द्वादशांगका ही पदार्थ अन्यमजहबवालोंने अन्यथारूपसे लिया है ।'

(१४) इतरदर्शनकारोंने द्रव्य और गुणादि पदार्थ भिन्न भिन्न माने हैं, इससे ये लोग गुणादिक पदार्थोंको व्यक्त भावरूपसे नहीं निरूपण कर सक्ते हैं, तब जैनदर्शन द्रव्य और

भावका कथंचित् भिन्नाभिन्नपणाको मान्य करनेके कारण भावके नामसे पर्याय दिखा सक्ते हैं, और इसीसे तत्त्वार्थकारमहाराज पर्यायपदार्थको भी साथ लेकर भावके नामसे ही गुणोंका भी निरूपण करते हैं, लेकिन पाठकोंको ख्याल रखना चाहिये कि यह शास्त्र मोक्षप्राप्तिके उद्देशसे ही बनाया गया हैं इससे ज्यादह जीवके उद्देशसे ही भावका निरूपण किया है।

(१५) अन्यदर्शनकारोंने जीवको ज्ञानका अधिकरण माना है, याने आत्माको ज्ञानका भाजन माना है, परन्तु जैनदर्शनके मन्तव्यानुसार न तो ज्ञान आत्मासे भिन्न है और न ज्ञान आत्मामें आधेयभावसे रहा हुवा है, किंतु आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, इसीसे ही सूत्रकारने 'उपयोगो लक्षणं' ऐसा सूत्र कहा है, यद्यपि अन्यमजहबवालोंको परमेश्वरमें ज्ञान मानना है और इंद्रिय या मन जो ज्ञानके साधन माने हैं वे परमेश्वरको नहीं मानना है, इससे ज्ञान आत्माका स्वभाव है ऐसा जबरन मानना ही होगा, लेकिन नैयायिक और वैशेपिककी तरह सांख्य भी मुक्तोंमें ज्ञान मानते ही नहीं. फिर ये लोग आत्माको ज्ञानस्वरूप कैसे मानेंगे?, वाचकवृन्द! याद रखिये कि इसीसे ही उन मतोंमें आत्माकी सर्वज्ञताका सद्भाव मानना मुश्किल होजाता है, ज्ञानकी तन्मयताही मंजुर

नहीं है तो फिर वे लोग ज्ञान और रोकनेवाले कर्मोंको कहां से मंजूर करें ?

(१६) अन्यदर्शनकारोंने स्थूल और लैंगिक ऐसे शरीर माने हैं, तब जैनदर्शनमें पृथ्वीसे मनुष्यतकको औदारिक, देव, नारकको पूर्वभवके किये हुवे कार्योंसे लाखों गुणा सुख दुःख भुगतनेके लिये काबिल ऐसा वैक्रिय२ महायोगिके योग्य आहारक३ ये तीन शरीरके भेद स्थूलके दिखाये और गर्भसे लगाकर यावज्जीवन खुराकका पाक करके रसादि करनेवाला तैजस और आखिरमें कर्मका विकार या समूहरूप कार्मण शरीर ऐसे पांच तरहके शरीर दिखाये हैं

(१७) अन्यमजहबवालोंने कर्मोको ही पौद्गलिक नहीं माने हैं, तो फिर आयुष्यको पौद्गलिक माने ही कैसे ?, और आयुष्यको पौद्गलिक ही नहीं माने तो फिर उपक्रम आयुष्यको लगते हैं और आयुष्यका अपवर्त्तन होता है वैसा कैसे मान सकें ?, और ऐसा न मानें तो अनपवर्त्तनीय विभाग तो मानेही कहां से ?, वे लोक उपक्रम और अपवर्त्तन न माने ऐसा कभीभी नहीं बनेगा, क्योंकि कोईभी मनुष्य क्या अग्नि हथीयारआदिसे नहीं डरे ऐसा बनता है ? हरगीज नहीं, तो फिर मानना ही पडेगा कि यही उपक्रम और अपवर्त्तनकी सिद्धि है.

(१८) तीसरे अध्यायमें कर्मभूमिके भेद दिखाते जो 'अन्यत्र' करके देवकुरु उत्तरकुरुका वर्जन करके कर्म अकर्म भूमिका बयान दर्ज किया, वह असंख्यद्वीपसमुद्रादि वर्णनकी शैलीकी तरह अलौकिक है।

(१९) पांचवें अध्यायमें अजीवकायसे आरंभ कर जो धर्मास्ति-कायादिका प्रकरण लिया है वह इतरदर्शनकारोंने जो आकाशका अधिकरणके हिसाबसे वर्णन किया था उसका ही प्रतिबिंब है, परंतु वस्तुएँ अलौकिक हैं.

(२०) उत्पादव्ययादिका निरूपण इतरदर्शनोंमें स्वप्नमेंभी नहीं था, और हो सक्ताभी नहीं.

(२१) "कालश्चेत्येके" यह पांचवे अध्यायका सूत्रही अन्यदर्शन-कारोंको स्याद्वाद दिखानेके साथ इस तत्त्वार्थसूत्रका व्यापित्व दिखलाता है।

(२२) इधर तत्त्वविभागसे आश्रवादिके प्रकरण हैं, और इसीसेही कितनेक छोटे और कितनेक बडे भी होगए हैं, यह दर्शनकारोंके सूत्रोंकी अनुकरणीयता ही दिखाता है।

(२३) देव निर्ग्रन्थ और सिद्धके लिये स्थिति और क्षेत्रादिका विकल्प करके जो निरूपण करनेका दिखाया वहभी दर्शनकारोंकी अनुकृति है।

(२४) मालूम होता है कि अन्यमजहबवालोंने महादेवकी अष्टमूर्तिके हिसाबसे अष्टाध्यायीका विभाग रक्खा,

इधर उसीतरहसे दशतरहका श्रमणधर्म ही मोक्षका साधक और तत्त्वभूत गिनकर दशअध्याय प्रमाण रक्खा है, और इसीसे ही कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्री हेमचन्द्र-सूरीश्वरजीने प्रमाणमीमांसामें महाव्रतधर्मके हिसाबसे पांच अध्याय और दशविधयतिधर्मके लिये दश आह्निक रक्खे हैं. इसतरहसे अन्य सबब भी इतरदर्शनशास्त्रकी अनुकृतिमें दे सकें, लेकिन संक्षेप करके सज्जनोंको खुद ही सोचनेका इशारा करके बस करते हैं.

(२५) 'समनस्कामनस्काः' यह संसारी और मुक्तिके विभाग करनेके बाद और त्रस स्थावर भेद के पेश्तर कहा है, इसकी मतलब यह होगा कि इतरदर्शनकार सभी जीवको मनसे युक्त मानते हैं और वह मन भी नित्य मानते हैं. इससे इधर दिखाया कि सभीको मन है भी नहीं, और मनका वियोग करके ही मुक्त आत्मा मनरहित होते हैं. यह सूत्र सामान्यविभागका होनेसे ही आगे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' ऐसा और 'संज्ञिनः समनस्काः' ऐसा सूत्र कहा. अन्यथा इस समनस्का० सूत्रकी जरूरत नहीं थी. 'संज्ञिनः समनस्काः' इतना ही बस था और 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस स्थानमें 'आद्यास्त्रसस्थावराः' इतना ही बस था।

(२६) 'मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानं' ऐसा कह कर जो 'तत् प्रमाणे' ऐसा सूत्र कहा वह भी इतरदर्शनकार इन्द्रियार्थसंनिकर्ष आदिको प्रमाण मानते हैं या प्रामाण्य भी जिस परसे मानते हैं यह योग्य नहीं है ऐसा दिखानेके लिए है।

(२७) 'कृत्स्नकर्मवियोगो मोक्षः' यह सूत्र भी अभावमय या ज्ञानादिविच्छेदमय जो मोक्ष मानते हैं उनको सत्य-पदार्थसमझानेके लिये है।

यह सब बयान इतरदर्शनकारोंकी अपेक्षाका दिया है, इसका मतलब यह है कि श्वेतांबरोंकीही यह मान्यता है कि जिस जमानेमें जीव जिसतरहसे बोध पावे और श्रीवीतरागके मार्गमें स्थिर होवे वैसा प्रयत्न करना चाहिये, इससे भी यह शास्त्र श्वेतांबरोंकाही है ऐसा समझा जाय।

आखिरमें सब श्वेतांबर व दिगंबरभाइयोंको सत्यमार्गपर स्थिर रहनेकी और वीतरागप्रणीत मार्ग अखत्यार करनेकी संभावना करते हैं, और लेखको समाप्त करते हैं।

वीर सं. २४६२ }
आषाढ शुक्ला ५ }

आनन्दसागर

॥ श्रीभगवत्यै नमः ॥

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता श्वेतांबर हैं या दिगंबर ?

ग्रन्थकर्ता की उत्कृष्टता

श्रीमान् उमास्वातिजीवाचकमहाराजने तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ बनाया है कि इसको देखनेवाला इसे अपनाये विना कदापि नहीं रह सक्ता। अतः इसका कोई न कोई खास कारण अवश्य होना चाहिये। इसविषयमें और विद्वानोंके चाहे कुछ भी विचार हों किन्तु मेरे ख्यालसे तो इसका यही खास कारण मालूम होता है कि यह ग्रंथ बडा ही संग्राहक है, याने दूसरे ग्रंथ एक एक विषयको प्रतिपादन कर शास्त्रके एक एक गहनविषयकी सुगमता करके शास्त्रसमुद्रमें प्रवेश कराते हैं और इतना होने पर भी एकविषयका तलस्पर्शी ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सक्के, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र ही एक ऐसा ग्रंथ है कि जो सभीविषयोंका ज्ञान उत्पन्न करके तमाम शास्त्रोंके अवगाहन या श्रवणकी योग्यता करा देता है, याने यह सूत्र तमामविषयोंका तलस्पर्शीज्ञान करानेवाला होनेके साथ

बहुत ही संक्षिप्तरूप होकर संग्राहक है। इसीलिये कलिकाल-सर्वज्ञ श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यजीने अपने श्रीसिद्धहैमशब्दानु-शासनमें 'उत्कृष्टेऽनूपेन २-२-३९' इस कारकसूत्रकी व्याख्या-में बतौर उदाहरणके दिखाया है कि 'उपोमास्वातिं संग्रहीतारः' याने शास्त्रोंके तत्त्वोंको संग्रह करके कहनेवाले श्रीमान् उमास्वातिजी महाराजही संग्रहकारआचार्योंमें शिरोमणि हैं। यही बात श्रीमान् मेघविजयजी उपाध्यायजी भी अपनी हेम-कौमुदीमें फर्माते हैं। श्रीमान् विनयविजयजी उपाध्याय अपना प्रक्रियाव्याकरणमें और श्रीमान् मलयगिरीजी महाराज भी अपने शब्दानुशासनमें इस विषय पर इन्हीं महाराजका उदाहरण देते हैं। मतलब यह है कि शब्दानुशासनके बनानेवाले और उद्धृत करनेवालोंने भी इन्हीं उमास्वातिजीमहाराज की मुक्तकण्ठ-से प्रशंसा की और इन्होंको ही संग्रहकारोंमें अग्रुए बतलाये हैं।

श्वेतांबराचार्योंने जिस प्रकार उमास्वातिजीमहाराजकी संग्रहकारतरीके प्रशंसा की है वैसी दिगंबरोंके शब्दानुशासन-में नहीं पाई जाती. इसके मुख्य कारण दो प्रतीत होते हैं। एक तो यह है कि श्वेतांबरोंके आगम-शास्त्र विस्तृत विद्यमान हैं. जिनकी अपेक्षासे इस तत्त्वार्थसूत्रको बडा ही संग्राहक मान सक्ते हैं, किन्तु दिगंबरमजहबकी मान्यताके मुताबिक श्रीजिने-श्वरभगवान एवं गणधरमहाराजका कोई भी वचन या शास्त्र वर्तमानमें है ही नहीं। दिगंबरजैनियोंका जो कुछ भी साहित्य है वह उनके आचार्योंका ही बनाया हुआ है, जो कि उमास्वातिजी-

महाराज के पीछे हुए हैं। तो फिर ये लोग किन शास्त्रोंके आधारसे संग्रह याने सूक्ष्मतासे सबविषयोंका उद्धार होना मान सकें ?। इसी कारणसे दिगंबरियोंने इसे संग्रहित नहीं माना। जब ग्रंथको ही संग्रहित नहीं माना तो फिर वे उसके कर्ताको संग्रहकार कैसे मानें ?। और जब कर्ता को संग्रहकार ही नहीं माने तो उन्हें संग्रहकारोंमें अग्रगण्य कैसे कहें ?, अर्थात् श्वेतांबरलोग जिस प्रकार इस सूत्रको संग्रहित और सूत्रकर्ताको उत्कृष्टसंग्रहकार मंजूर कर उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं उस तरह से दिगंबरोंने नहीं की, और कर सके भी नहीं।

दूसरा कारण यह भी मालूम होता है कि दिगंबरियोंमें जिस वक्त शब्दानुशासन बना होगा उस वक्त इस तत्त्वार्थसूत्र को उन लोगोंने पूरीतौरसे नहीं अपनाया होगा। जो कुछ भी हो, किन्तु हर्षकी बात है कि वर्तमानसमयमें इस सूत्रको श्वेतांबर और दिगंबर दोनों सम्प्रदायने अच्छीतरहसे अपनाया है।

ग्रंथकर्ता का नाम-निर्णय

इस सूत्रको बनानेवाले आचार्यमहाराजको श्वेतांबर लोग श्रीमान् 'उमास्वातिजीवाचक' और दिगंबर लोग 'उमास्वामी' कहते हैं। श्वेतांबरलोगोंके हिसाबसे इन आचार्यमहाराजकी माताका नाम 'उमा' और पिताका नाम 'स्वाती' था. इसीलिये आपका नाम 'उमास्वाति' जगतमें प्रसिद्ध हुआ। श्वेतांबर-संप्रदायमें इन्हीं आचार्यमहाराजके

रचे हुए दूसरे शास्त्र भी माने गये हैं। उन्हींमेंसे तत्त्वार्थभाष्यमें खुद आचार्यमहाराजने ही 'स्वातितनयेन' ऐसा कहकर अपने पिताका नाम स्वाति है, ऐसा साफ जाहिर कर दिया है, और उसी स्थान पर अपनी माताका नाम 'उमा' था, ऐसा भी स्पष्टअक्षरोंमें ही सूचित किया है. संभव भी है कि उमा नाम स्त्री वाचक होने से श्रीमान् की माता का नाम 'उमा' हो। मतलब यह कि आपका नाम आपके मातापिताके नामके संयोगसे है। प्राचीनजमानेमें यह बात अक्सर होती भी थी कि माता या पिताके नामसे या दोनों के नामसे लडके का नाम रखा जाता था। यह बात तो हुई श्वेतांबरोंके हिसाबसे ग्रंथकारके नामकी बाबत, किन्तु दिगंबरलोग 'उमा' और 'स्वामी' शब्दसे कौन अर्थ लगाते हैं वह उनके तर्फसे अभी तक जाहिरमें नहीं आया है। यदि कोई विद्वान इसविषयका खुलासा करेगा तो हमें हर्ष होगा।

जब तक इसका खुलासा न हो और नामपर ही विचार किया जाय तो उमानामकी कोई व्यक्ति हो, एवं उसके स्वामी याने नाथ होवे, और इससे श्रीमान्को उमास्वामी कहा जाय, यह तो अच्छा नहीं मालूम होता, इसके सिवाय कोषकारों-ने उमाशब्द जैसा पार्वतीका वाचक गिना है वैसा ही कीर्ति-का वाचक भी माना है। इससे उमा याने कीर्ति और स्वामी याने नायक, अर्थात् कीर्तिके नायक इन ग्रंथकारको मानकर

उमास्वामी नाम रखा हो तब तो ठीक मालूम होता है, किन्तु दिगंबरियोंमें प्रायः रिवाज है कि साधु और आचार्यको इलकाबके तौर पर नामके आगे 'स्वामी' शब्द लगाया जाता है, तो फिर इनसे असली नाम उमा होना और वह तो स्त्रीवाचक होनेसे सर्वथा असंभवित ही है। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वातीका टुंक नाम उमा रखकर उनके साथ स्वामी शब्द लगाया गया या शुरूसे ही उमास्वामी नाम हो, किन्तु विचार करने पर इन दोनोंकी अयोग्यता है और प्रथम पक्ष ही ठीक जचता है।

वाचक कौन ?

श्वेतांबरोंके हिसाबसे श्रीमानका उमास्वाति नाम शुरूसे ही था, किन्तु जब आप दीक्षित होकर पूर्वसूत्रों याने "दृष्टिवाद" नामका जो बारवां अंग है, उसका तीसरा हिस्सा पूर्वनामक है, उसके पाठक हुए तब आप 'उमास्वातिवाचक' कहलाये। श्वेतांबरशास्त्रोंमें यह तो स्पष्ट ही है कि 'वाचकाः पूर्वविदः' अर्थात् पूर्वशास्त्रोंको पढने विचारने एवं बांचनेवाले वाचक गिने जाते थे। इसीलिये ही तो आपने तत्त्वार्थभाष्यमें खुदका नाम उमास्वाति ही दिखाकर अपने गुरुमहाराजको ही वाचक तरीके दिखाये हैं। यद्यपि दिगंबर लोग इन उमास्वातिजीमहाराजको उच्चकोटीके तत्वज्ञानी मानते हैं, किन्तु वे पूर्वशास्त्रोंके वेत्ता थे ऐसा कहनेमें संकोच करते हैं, और श्वेताम्बरलोग 'इदमुच्चैर्नागरवाचकेन' ऐसा भाष्यका पाठ देखकर श्रीमान्का वाचकपनाका स्वीकार करते हैं।

ग्रन्थका समय

इस सूत्रकी प्राचीनताके विषयमें कुछ भी मतभेद नहीं है। दोनों ही सम्प्रदायवाले इसे प्राचीन मानते हैं। श्वेताम्बरलोग महोपाध्याय-श्रीधर्मसागरजीकी पट्टावली आदिसे और खुद-ने भी तत्त्वार्थभाष्यमें अपनी शाखा उच्चनागरी दिखाई है, इससे श्रीमान्‌को उच्चनागरीशाखाके मानते हैं। यद्यपि श्वेताम्बरलोग प्रज्ञापनानामक चतुर्थ उपांगके रचयिता श्रीमान् श्यामाचार्यके गुरु और दशपूर्वधर मानते हैं; किन्तु कितनेक श्वेताम्बरलोग उच्चनागरी-शाखा का प्रादुर्भाव श्रीवज्रस्वामीजीके बाद होनेसे श्रीमान्‌को सम्पूर्णदशपूर्वधर माननेमें हिचकते हैं।

पाठकों! श्रीमान् उमास्वातिजीमहाराज सम्पूर्ण दश पूर्वको धारण करनेवाले हों या न हों किन्तु पूर्वको धारण करनेवाले अवश्य थे, और श्रीवीरमहाराजसे दसमी सदीके पेश्तरके थे, क्योंकि श्रीमान्‌जिनदासगणिजी और हरिभद्रसूरिजी वगैरा श्रीवीरमहाराजकी दसवींशताब्दीके आचार्यभी तत्त्वार्थादिसूत्रोंकी जीतकल्पचूर्णि, आवश्यकबृहद्वृत्ति, आदिमें साक्षी देते हैं, और श्रीमान्‌का बनाया हुआ क्षेत्र-समास जो प्राकृतभाषामें है उसको टीकासे अलंकृत किया है। पूर्वका अभ्यास दसमीशताब्दी तक ही था, यह बात तो सिद्ध ही है, याने इस सूत्रको रचे करीब १५००-१७०० वर्ष हुए हैं, और इसविषयमें किसीके तर्फसे कोई भी शंका

नहीं है। दिगम्बरलोग भी इन आचार्यको गृद्धपिच्छके शिष्य मानकर प्राचीनतम मंजूर करते हैं। इस विषयमें म्हेसाणा श्रेयस्करमंडलकी ओरसे श्वेताम्बरोंने छपवाये तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें और बंबई परमश्रुतप्रभावक-संस्था तर्फसे छपवाये हुए तत्त्वार्थसूत्रसभाष्य भाषान्तर-की प्रस्तावनामें विद्वानोंको विशेष जानकारी हो सकती है।

ग्रन्थ उत्पत्ति

इस ग्रन्थकी उत्पत्तिके विषयमें श्वेताम्बरों की यह मान्यता है कि शास्त्रके विस्तारसे तत्त्वज्ञानमें जिनलोगों की रुचि कम हो, या जिनलोगोंको विस्तृत शास्त्र जानने या सुननेका समय कम मिलता हो, या बड़े शास्त्रोंमें प्रवेश करनेके पेश्तर सूक्ष्मतासे परिभाषा समझना हो वैसे जिज्ञासुओं एवं बालजीवों-के लाभार्थ श्रीमान्ने यह शास्त्र बनाया है। उधर दिगम्बरोंका कहना है कि किसी श्रावकको प्रतिदिन एक सूत्र बनानेका नियम था, अतः उसने पहिला सूत्र "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ऐसा बनाकर उसे भींत (दीवाल) पर लिखा। उसके घर गोचरीके लिये आये हुए उमास्वातिजीमहाराजने उस सूत्रको देखा। उसको देखकर श्रीमान्ने उस श्रावकसे कहा कि इस सूत्रके आदिमें सम्यक्शब्द और लगाना चाहिये, याने-"सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः," इस प्रकार यह सूत्र होना चाहिये। तब श्रावकने नम्रता पूर्वक निवेदन किया

कि हे महाराज ! आप समर्थ हैं अतः यह ग्रन्थ आपही बनाइये ?. उस श्रावककी इस विनतिको स्वीकार कर उमास्वातिजीमहाराजने यह शास्त्र बनाया है। इस विषयमें कितनेकको यह जिज्ञासा जरूर रहती है कि वह श्रावक किस गांव का और उसका नाम क्या था ?, एवं उस श्रावकको प्रतिदिन एक सूत्र बनानेका जो नियम था उसका क्या हुआ ? किन्तु इसका स्पष्ट खुलासा नहीं मिलता है, जैनशासनमें प्रसिद्ध ऐसे सम्यग्दर्शनादिमेंसे सम्यक्पदको उस श्रावकनें क्यों निकाल दिया ? और जब यही सूत्र सारे ग्रन्थके आदिका है तो फिर आदिभागमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' यह श्लोक किसने लगा दिया ?

आद्य श्लोक

कितनेक लोगोंका तो कहना है कि मोक्षमार्गका श्लोक तत्त्वार्थमें शुरूसे ही नहीं था, और इसीसे वार्त्तिककारने इस श्लोकका स्पर्श भी नहीं किया है, इस श्लोककी व्याख्या सर्वार्थसिद्धिमें भी नहीं है, इससे मालूम होता है कि यह श्लोक तत्त्वार्थके अन्तर्गत ही नहीं है।

श्वेताम्बरलोग इस श्लोककी व्याख्या न तो अपनी टीकाओंमें करते हैं और न इस श्लोकको तत्त्वार्थके अन्तर्गत ही मानते हैं। श्वेताम्बरोंका कहना है कि यदि यह श्लोक तत्त्वार्थ का होता तो पेश्तर उसमें अभिधेयादि निर्देश होता,

क्योंकि अभिधेयादिनिर्देशके विना अकेला मंगलाचरण करनेका रिवाज न तो श्वेताम्बरोंके शास्त्रोंमें है और न दिगंबरोंके शास्त्रोंमें है। जैसा शास्त्रके आदिमें मंगलाचरण होता है वैसा ही अभिधेयाधिकारिनिर्देशभी अवश्य होता ही है। और मंगलाचरण शिष्टाचारसे शास्त्रसमाप्तिके लिये होता है. किन्तु यहां तो "वन्दे तद्गुणलब्धये" ऐसा अखीर का पद देकर नमस्कारका फल श्रीजिनगुणके लब्धिरूप दिखा दिया है। जिससे यह श्लोक तत्त्वार्थशास्त्रके सम्बन्धमें ही नहीं है ऐसा कहनेके साथ २ यह भी कहते हैं कि इस श्लोकमें पहतर तो मोक्षमार्गका प्रणेतृत्त्व लिया है बादमें कर्मपर्वतोंका भेदना तदुपरान्त विश्वतत्त्व का ज्ञान लिया है. याने यह क्रम ही उलटा है। कर्मक्षयके, विना केवलज्ञान कैसा? और केवलज्ञानके विना मोक्ष-मार्गका प्रणयन कहां?, अतः यह श्लोक क्रमसे भी भिन्न है। इसके सिवाय इसमें विशेष्यका निर्देश न होनेसे यह श्लोक दूसरे ग्रन्थके सम्बन्धमें है, एवं इस श्लोकको किसीने इधर तत्त्वार्थआदिमें मंगलाचरण या और किसी इरादे-से स्थापन किया है। तत्त्वके जानकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायवाले इस श्लोकको श्रीमान् उमास्वातिजीमहाराजका बनाया हुआ नहीं मानते हैं।

शास्त्र सम्प्रदाय

यह तत्त्वार्थसूत्र दोनोंही सम्प्रदाय याने श्वेताम्बर और दिगम्बरमें परम मान्य है, और इस पर दोनोंही सम्प्रदायके विद्वानोंने विस्तृत एवं संकुचित विवेचन भी किया है। यद्यपि कितनेक प्रमाणग्रन्थोंको याने न्यायसम्बन्धीग्रन्थोंको दोनो परस्पर मंजूर करते हैं, एवं टीकासे भी अलंकृत करते हैं, और प्रत्यक्षादि प्रमाणों, जीवादि विषयों तथा स्याद्वादमर्यादामें दोनोंको ऐक्यता है। इसीसे तो उनको प्रतिपादन करनेवाले युक्तिप्रधान ग्रन्थोंको दोनों ही परस्पर मानते हैं, और इसी कारणसे सिद्धिविनिश्चय-का उल्लेख प्रमाणशास्त्रतरीके श्रीनिशीथचूर्णिमें पाया जाता है। अष्टसहस्री पर न्यायाचार्यश्रीमान्यशोविजयजी-उपाध्यायजीने टीका बनाई है। ऐसे न्यायप्रधानग्रन्थोंमें व्याकरणग्रन्थोंकी तरह विवाद न होनेसे परस्पर मान्यता रहनी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ-के विषयमें भी बहुत भाग ऐसा है कि दोनों सम्प्रदाय-वालोंको एक सरीखा मान्य है। किन्तु दूसरे ग्रन्थोंके कर्त्ता सम्बन्धी ऐसा कोई विवाद नहीं है जैसा इस ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें है। अष्टसहस्री और स्याद्वादमंजरी वगैरा ग्रन्थोंको दोनों सम्प्रदायवाले अपने २ उपयोगमें लेते हैं, और उनके कर्ता सम्बन्धी कोई विवाद नहीं करते हैं। दिगम्बरकी कृतिको दिगम्बरकृति तरीके और श्वेताम्बर-

की कृतिको श्वेताम्बरकर्तृक तरीके दोनों ही मंजूर करते हैं, किन्तु इस तत्त्वार्थके विषयमें ऐसा नहीं है। श्वेताम्बर लोग इस शास्त्रको श्वेताम्बर मन्तव्य प्रतिपादन करनेवाला और दिगम्बरलोग इसको अपना मन्तव्य प्रतिपादन करनेवाला मानते हैं। श्वेताम्बरलोग इसके कर्त्ताको श्रीउमास्वातिजीवाचकके नामसे अपनी सम्प्रदायके आचार्य मानते हैं, तो दिगम्बरलोग इनको अपनी सम्प्रदायमें उमास्वामीआचार्यके नामसे स्वीकार करते हैं, ऐसी स्थितिमें दोनों सम्प्रदायवाले जिस रीति से इस सूत्रसे अपना २ मन्तव्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं उसी तरहसे अन्यके मजहबसे यह बात विरोधी है और इससे यह शास्त्र इन्हों का नहीं है ऐसा सिद्ध करनेका प्रयत्न भी करते हैं।

सम्प्रदाय भेद

इस ग्रन्थविषयक चर्चा होनेका खास कारण यह है कि इस शास्त्रकी रचना श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायकी भिन्नता होनेके पेश्तर हुई है। यदि दोनों सम्प्रदायके विभक्त होनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना होती तो यह चर्चा होती ही नहीं। दोनों सम्प्रदायकी विभक्तताके समय के विषयमें तो दोनोंही सम्प्रदायवालोंकी सरीखी मान्यता है। श्वेताम्बरलोग दिगम्बरको उत्पन्न होनेका समय श्रीवीर सं० ६०९ बताते हैं, तब दिगंबरलोग श्वेताम्बरसम्प्रदायकी उत्पत्ति विक्रम सं० १३६ में बताते

हैं। अर्थात् दिगम्बरोंके हिसाबसे भी श्वेताम्बरोंके ही मुताबिक श्रीवीरसंवत् और विक्रमसंवत्का फर्क ४७० होनेसे वीरसंवत् १३६+४७०=६०६ होता है, तो ऐसे विषयमें जो तीनवर्षका फरक होता है वो कोई फरक नहीं गिना जाय, अतः दोनों सम्प्रदायके भिन्नताका समय दोनोंकी मन्तव्यतासे सरीखा ही है। अब इन दोनों सम्प्रदायोंमेंसे श्वेताम्बर कहते हैं कि हम असलसे हैं, और दिगम्बरसम्प्रदाय हममेंसे निकली है, और इसकी पुष्टिमें बोटिकका बयान जो आवश्यक, विशेषावश्यक, उत्तराध्ययन आदिमें दर्ज है वह दिखलाते हैं। उधर दिगम्बरीलोग कहते हैं कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय हममेंसे निकली है, और इसके सबूतमें दर्शनसारग्रन्थका सबूत देते हैं, कौन किससे निकला है? इस विषयमें यदि तटस्थदृष्टिसे विचार किया जाय तो दिगम्बरलोग ही श्वेताम्बरोंसे निकले हैं। इसका विशेष विवेचन तो इस विषयके स्वतंत्रलेखमें होना ही ठीक है, किन्तु जो दिगम्बरलोग श्वेताम्बरमेंसे नहीं निकले होते तो वे दिगम्बर शब्द जो वस्त्रकाही प्रश्नोत्तररूप है उससे आपको कहलातेही नहीं। पाठकों! यदि दूरन्देशीसे विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम होजायगा कि दोनोंके नामके अखीरमें अम्बरशब्द लगा हुआ है, जोकि वस्त्रका वाचक है। इससे एक कहते हैं कि हम सफेदवस्त्रवाले हैं और दूसरे कहते हैं कि

हम दिशारूप वस्त्रवाले हैं, अर्थात् दोनोंने अम्बरशब्दको तो अपने नाममें रखाही है। असलमें ऐसा मालूम होता है कि जब दिगम्बरसम्प्रदाय श्वेताम्बरसे अलग हुआ तब इतर लोगोंने उनसे पूछा कि तुम्हारे पास अन्य जैनसाधुओं जैसे कपडे कहां हैं? तो दिगम्बरोंको कहना पडा कि हमारे दिशारूपही वस्त्र हैं। इस प्रकार कहनेसे ही इस सम्प्रदायको लोग जैन नहीं कहके दिगम्बर कहने लगे. याने दिगंबरपना लोगोंने ही लगाया।

कभी मान लिया जाय कि दिगम्बरसम्प्रदायसे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय निकली, तो यह बात उचित नहीं जचती। क्योंकि दिगम्बरमेंसे श्वेताम्बर निकले होते तो उनका नाम साम्बर याने वस्त्रवाले ऐसा ही होना चाहिये था, कारण कि वस्त्र विना-के दिगम्बरोंमेंसे यदि निकले होते तो विशिष्टतावाला वस्त्र-सहितपनेका साम्बर नामही रखा होता। जिस प्रकार श्वेताम्बरों में त्यागीवर्गमेंसे निकले हुए यतिवर्गको परिग्रहवाले कहते हैं, उसी प्रकार इधर भी सांबर ही नाम होता, न कि श्वेताम्बर। अतः निर्णय किया जायगा कि श्वेताम्बरोंमेंसे ही दिगम्बर निकले हैं, परंतु श्वेताम्बर लोग दिगम्बरोंमेंसे नहीं निकले हैं।

सूत्र चर्चा

दिगंबरोंकि तर्फसे कहा जाता है कि यदि यह सूत्र श्वेतांबरोंका होता तो इसका प्रतिपादन श्वेतांबरशैली से होता, किन्तु इसमें ऐसा प्रतिपादन ही नहीं है. श्वेतांबरोंने जीवादि नव

तत्त्व माने हैं और इससूत्रमें जीवादि सात तत्त्वोंका ही प्रतिपादन है. अर्थात् श्वेतांबरलोग पुण्य और पाप तत्त्व साथ ही रखकर जीवादि नवको तत्त्व मानते हैं, किन्तु इससूत्रमें तो जीवादि सात तत्त्वहीका निरूपण करके पुण्य और पाप को तत्त्वकी कोटिमें लिया ही नहीं है.

इसी प्रकार प्रायश्चित्तके विषयमें भी जब श्वेतांबरोंके शास्त्र आलोचनासे लेकर पारांचिततकके दस प्रायश्चित्त दिखाते हैं. तब इसीसूत्रमें आलोचनासे लेकर अनवस्थाप्य तकके नौ प्रायश्चित्त ही दिखाये हैं, अतः ऐसी स्थितिमें यह शास्त्र किसी भी तरहसे श्वेतांबरीय कदापि नहीं हो सक्ता?

इधर इसविषयमें श्वेतांबरोंका कहना है कि श्रीउमास्वातिवाचकजीने "शुभः पुण्यस्य" और "अशुभः पापस्य" इन दोनों सूत्रोंसे पुण्य और पापतत्त्वको दिखाकर पुण्य और पापको तत्त्व ही माना है, इतना ही नहीं, किन्तु "सम्यक्त्व-हास्यरतिपुंवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं" और "शेषं पापं" ऐसा कहकर पुण्य और पापके फल भी स्वतंत्र दिखाये हैं. तो फिर श्रीमान्ने पुण्य और पापको तत्त्वही नहीं माना, ऐसा कैसे कहा जाय? अलबत्ता इतना जरूर है कि श्रीमान्ने जैसी जीवादिकी स्वतंत्र तरीके तत्त्वमें गिन्ती की, वैसी पुण्य और पापतत्त्वकी नहीं की, किन्तु इसमें विवक्षा ही मुख्य है, क्योंकि श्वेतांबरशास्त्र ठाणांग, पन्नवणा, अनुयोगद्वार आदिमें सामान्य-

से जीव और अजीव इन दोनोंकोही तत्त्व या द्रव्य तरीके दिखाये है, तो क्या स्थानांग आदिमें ही अन्यत्र कहे हुए आश्रवादिको वहां तत्त्व नहीं माना है ? अवश्य माना है. इसी तरह इधर भी पुण्य और पाप की विवक्षा पृथक् तत्त्व तरीके नहीं की है, किन्तु श्रीमान्‌ने पुण्य और पापको तत्त्व अवश्य माने हैं. अतः यह शास्त्र सात तत्त्वों काही प्रतिपादन करता है इससे श्वेतांबरोंका नहीं है, ऐसा कहना अकलमंदीका काम नहीं है, परस्पर विभक्त सात ही तत्त्व हैं. पुण्य और पाप आश्रवकी भीतर है, आश्रवादि जीवाजीवके मिश्रित है, स्वतंत्र पुण्यादिका तरह भेदरूप नहीं है. इसी तरह आलोचनादि प्रायश्चित्त भी नौ ही दिखाये. याने श्वेतांबरोंने माना हुआ पारांचित नामक प्रायश्चित्त इसमें नहीं दिखाया. इससे यह ग्रंथ श्वेतांबरोंका नहीं है ऐसा कहना भी भोलापन ही है. क्योंकि छेदनामके प्रायश्चित्तमें छेद और मूलकी एकही प्रायश्चित तरीके विवक्षा होसकती है. अतः छेद और मूलकी विवक्षा न की. कारण यह है कि साधपनके पर्यायमें कुछ अंश काटा जाय उसको छेद और सब पर्याय काटा जाय उसको मूलप्रायश्चित्त कहते हैं, अर्थात् दोनों प्रायश्चित्तोंमें छेद होनेसे छेदतरीके माननेमें कोई हरजा नहीं है. इसी तरह अनवस्थाप्यप्रायश्चित्तमें अमुक समय तक महाव्रतका आरोपण नहीं करना यह तत्त्व है, और परिहारका भी यही तत्त्व है. उपस्थापनाशब्दका अर्थ स्थिति करना होता है. ऐसे ही पारांचिकका अर्थ भी प्रायश्चित्तका दीर्घकालसे पार करके

उपस्थित होनेका है. याने जिसशास्त्रमें दसप्रकारका प्रायश्चित्त कहा है उसमें और इसमें फर्क नहीं होता है, कितनेक आचार्य उपस्थापनामें ही अनवस्थाप्य और पारांचिक गिनते हैं, तो उन दोनोंमें भी उपस्थापनाकी क्रिया दुबारा करना पडती है. इस हिसाबसेभी इसमें क्या हर्ज है ? । तत्त्वकी और प्रायश्चित्तकी विवक्षा अलग रीतिसे करनेमें ग्रंथभेद नहीं गिना जाता. पारांचिकप्रायश्चित्त चतुर्दशपूर्वीकोही होता है, किन्तु श्रीमान्‌उमास्वातिजीके समयमें चोदह पूर्व विद्यमान नहीं थे. अतः इस हिसाबसे भी पारांचिक नहीं गिना होवें तब भी क्या ताज्जुब !

इसीतरहसे कितनेक दिगंबरोंका ऐसा कहना है कि श्वेतांबरोंने लोकान्तिक नौ माने हैं, किन्तु इस तत्त्वार्थमें जो श्वेतांबरोंका सूत्र पाठ है उसमें सिर्फ आठही वें गिनायें है. अतः पाया जाता है कि इससूत्रको श्वेतांबरोंने बिगाड दियाहै. किन्तु ऐसा कहनेवालोंको सोचना चाहिये कि जब श्वेतांबरोंके स्थानांग, भगवतीजी, ज्ञातधर्मकथाआदिमें लोकान्तिकदेवके नौभेद स्पष्टतया माने गये हैं तो फिर श्वेतांबरलोग इधर नौभेदके स्थानमें आठ भेद क्यों करे ? । असल बात तो यह है कि उमास्वातिजीने ब्रह्मलोकके मध्यमें रहनेवाले रिष्ठविमानकी विवक्षा नहीं करके सिर्फ कृष्णराजीमें और ब्रह्मलोकके मध्यभागके शिवायमें यानें अंतमें रहनेवालोंको ही इधर लोकके

अंतमें रहनेवाले ऐसा स्पष्ट शब्दार्थ लेकर आठही भेद लोकान्तिकशब्दसे लिये हैं. याने लोकके अन्तमें रहनेवाले लोकान्तिक कहा जाय इस व्युत्पत्तिसे निर्देश है, यानें आठका रहना ब्रह्मदेवलोकके आखिर में है, इससे उनकोंही लोकान्तिक लिखे हैं. किंतु व्युत्पत्तिअर्थकी अपेक्षासे कहा हुआ पदार्थ तत्त्वका घातक नहीं हो सकता । श्वेतांबरोंनें अपने मजहबके अनुकूल पाठ करनेका नही रखा, परन्तु जैसा पाठ था वैसी ही मान्यता रखी और व्याख्या की है ।

इस तरह दिगंबरोंके श्वेतांबरों पर इस सूत्रके श्वेतांबरपनेके विषयमें जोर कटाक्ष थे, वे इस लेखद्वारा दिखाये हैं, और उनका समाधान भी श्वेतांबर जिस तरहसे करते हैं वैसा किया गया है।

कितनेक दिगम्बर लोग यह भी कह देते हैं कि नय-सूत्रोंमें सात नय माननें पर पांच नय क्यों माना ?

पाठको ! आवश्यक, विशेषआवश्यक वगैरह देखनेसे पत्ता चलता है कि नयके भेद दो भी हैं, और तीन भी है चार भी हैं, और पांच भी है छ भी हैं और सात भी हैं, याने नयके पांच भेद मानना यह भी श्वेतांबरोंके शास्त्रसे प्रतिकूल नहीं है।

पाठकों ! जिस प्रकार दिगंबरोंने श्वेतांबरोंके प्रति तत्त्वार्थसूत्र श्वेतांबरोंका नहीं है, ऐसा बतलानेके लिये शंकाएं की है उसीप्रकार श्वेतांबरोंकी तर्फसे भी दिगंबरोंके प्रति यह सूत्र दिगंबरआम्नायका नहीं है, यह दिखलानेके लिये अनेक

शंकाएं की जाती हैं. अतः उनमेंसे कितनीक यहां पर दर्ज करनेमें आती हैं. ये शंकाएं केवल मान्यताके विषयमेंही हैं, किन्तु पाठभेदके विषयमें तो जो विचार करना है वह इन शंकाओं-कों जताने बाद आगे पर करेंगे ।

(१) यदि इससूत्रके कर्ता श्वेतांबर नहीं होते तो अवधि और मनःपर्यवज्ञानके भेदमें विशुद्धिआदिसे दोनों ज्ञानका जो फर्क बतलाया है उसमें अव्वल तो लिंग याने वेदसे फर्क बताना चाहिये था. क्योंकि श्वेतांबरोंके हिसाबसे जैसा अप्रमत्तसाधुको मनःपर्यव ज्ञान होता है वैसा ही अप्रमत्तसाध्वीको भी मनःपर्याय ज्ञान होताही है, अतः श्वेतांबरोंके हिसाबसे दोनोंही वेदवाले अवधि और मनःपर्यवकी योग्यतावाले हैं. इससे उनके हिसाबसे वेदका फर्क दिखानेकी कोइ आवश्यकता नहीं है, किन्तु दिगंबरोंके हिसाबसे साधुओंको अप्रमत्तता होती है और उनको मनः-पर्यवज्ञान भी होता है, लेकिन स्त्रीवेदवाले जीवको साधुपना ही नहीं होता है, तो फिर मनःपर्यवज्ञान तो होवे ही कहां से? जब मनःपर्यवज्ञान पुरुषवेदवालेकोही होवे और स्त्रीवेदवाले-को नहीं होवे तो इस सूत्रमें पुरुषवेदस्वामित्वका फर्क जरूर दिखाना चाहिये था. क्योंकि अवधिज्ञान तो स्त्रियोंको भी होता है ऐसी दोनों ही संप्रदायोंकी मान्यता है ।

दूसरी बात श्वेतांबरी यह भी कहते हैं कि यदि दिगंबरोंके हिसाबसे बाह्यसंसर्गरहितको ही केवलज्ञान होवे और मनः-

पर्यवज्ञान भी निर्ग्रंथत्वप्रतिपत्तिमें ही होवे याने बाह्यसंसर्गरहित-पनेमें ही होवे, तो फिर यह अवधिज्ञानका फर्क केवल और मनः-पर्यव दोनोंके ही साथ रहा, किन्तु स्वामीपनसे केवल मनःपर्यव-के साथ नहीं. और यह बात सूत्रकारने दिखाई ही नहीं है। श्वेतांबरोंके हिसाबसेतो रजोहरणादि बाह्यलिंग या त्यागरूप बाह्य-लिंग वालाही जीव मनःपर्यवका मालिक होता है, किन्तु अवधि या केवलज्ञानका तो चाहे वह त्याग लिंगवाला हो या विना लिंग का हो. दोनोंही मालिक होसकते हैं. अतः इधर अवधि मनःपर्याय-के फर्क में स्वामीशब्द लिया है, लेकिन् आगे केवलमें नहिं यानें अवधिसे मनःपर्यायका फर्क दिखाया लेकिन् केवल का न दिखाया और इसीसे यह सूत्र श्वेतांबरसंप्रदायकाही है, लेकिन दिगम्बरसंप्रदायका नहीं है।

(२) चारनिकायके देवोंके भेद दिखाते समय ग्रंथकार-महाराजने स्पष्टरूपसे वैमानिकके भेदोंमें कल्पोपन्नतकके १२ भेद ही गिनायें हैं, याने "दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः" कहकर वैमानिकके १२ ही देवलोक दिखाये हैं, किन्तु दिगम्बरलोग कल्पोपपन्न १६ भेद मानते हैं. पाठकों! यदि ग्रंथकार महाराज दिगम्बरमजहबके होते तो "दशाष्टपंचषोडशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः" इस प्रकार सूत्रकी रचना करते। किन्तु १६ भेद देवलोकके नहीं दिखाते सिर्फ १२ ही भेद दिखाये हैं, अतः निश्चय होता है कि यह सूत्र श्वेताम्बरआचार्यका ही बनाया हुआ है।

(३) श्रीमान्‌ने वैमानिकदेवोंकी लेश्या, प्रवीचार और स्थितिके लिये जो जो सूत्र बनायें हैं वे दिगम्बरसंप्रदायके मानें हुए १६ देवलोकके हिसाबसे प्रतिकूल हैं, किंतु वे सब श्वेताम्बरके माने हुए १२ देवलोकके हिसाबसे ही अनुकूल हैं. देखिये ! दिगम्बरलोग १ सौधर्म २ ईशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्म ६ ब्रह्मोत्तर ७ लांतव ८ कापिष्ट ९ शुक्र १० महाशुक्र ११ शतार १२ सहस्रार १३ आनत १४ प्राणत १५ आरण और १६ अच्युत. इस प्रकार १६ देवलोक मानते हैं. अर्थात् ब्रह्मोत्तर, कापिष्ट, शुक्र और शतार इन चारको ज्यादा मानते है. अब इधर श्वेतांबरोंके हिसाबसे लांतकदेवलोकके देवसे आगेके सब देवलोकवाले देवोंकी शुक्लेश्या होती है. पहिले और दूसरे देवलोकके देवताओंकी पीत याने तेजसलेश्या, तीसरे चौथे और पांचवें ये तीन देवलोकवाले देवोंकां पद्मलेश्या और शेष लांतकादिदेवोंको शुक्लेश्या ही होती है. और इसी मुताबिक सूत्रकारने भी "पीतपद्मशुक्लेश्या द्वित्रिशेषेषु" इस सूत्रसे खुल्लंखुल्ला बतला भी दिया है. अब उधर दिगम्बरलोग शुक्लेश्या कापिष्टसे मानते हैं. किन्तु कापिष्टसे पेश्तर तो पांच देवलोक नहीं हैं, किंतु सात हैं इसका क्या होगा?, तब यहां पर इनकी बोलती बंद होजाती है. कितनेक देवलोकमें जबरन लेश्याका मिश्रपन मान लेते हैं. इससे साफ २ सिद्ध होगया कि लेश्याके हिसाबसे भी श्वेतांबरोंके ही अनुकूल ग्रंथकारमहाराजने सिर्फ १२ ही देवलोक माने हैं.

इसी तरह प्रविचारके विषयमें भी श्वेतांबरोंके हिसाबसे दूसरे देवलोक तक तो मैथुनक्रिया कायासे है। बादमें दो देवलोक तक स्पर्शसे, फिर आगे दो याने ५-६ में शब्दसे ७-८ में रूपसे और आगे ९-१०-११ १२ इन चारदेवलोकोंमें सिर्फ मनसे ही प्रविचार है. अर्थात् दो दो देवलोकमें क्रमसर एक एक बात लीगई है। अब इस स्थान पर दिगम्बरोंको १६ देवलोकके हिसाबसे गोटाला करना पडता है.क्योंकि देवलोक शेष रहे हैं१४ और विषय रहे हैं ४ स्पर्श, रूप, शब्द और मन. इसलिये दो दोका क्रम भी नहीं मान सकते हैं' कारणकि १४ में चार विभाग करना जरा मुश्किल है यदि दिगंबरोंकी मान्यता मुजब अनियमित क्रम होता तो सूत्रकारको अलग २ सूत्र करने पडते कि अमुकमें अमुक-प्रविचार और अमुकमें अमुक. किन्तु ऐसा नहीं करते समान विभागहोनेसे ही सूत्रकारमहाराजने अलग २ सूत्र नहीं करके सिर्फ एकही सूत्र किया और दो दो देवलोकोंमें एक एक बात दिखाई.

यहां पर पाठकोंको इतनी शंका जरूर होगी कि श्वेतांबरों-के कहने मुताबिक १० देवलोकमें ४ विषयकी सत्ता माननी है और दोदोंमें एकएक विषयभी मानना है तो यह कैसे होसक्ता है? यह शंका भी बेबुनियाद है, क्योंकि सूत्रकार श्रीउमास्वाति-वाचकजीमहाराजने ही आनत और प्राणतका आरण और अच्युतका समास दिखाकर दोनोंका निर्देश एकही साथ किया

है. अतः चारोंही देवलोककी दो देवलोक तरीके गिनती करनेमें कोई आपात्ति नहीं हो सक्ती. क्योंकि स्पर्शादि ३ विषयके ६ देवलोक और मनके विषयमें ४ देवलोक मानकर ४ विषयमें १० देवलोक मानना ग्रंथकारकेही हिसाबसे होगा.

इसी तरह स्थितिके विषयमें भी माहेन्द्रदेवलोकसे आगे ७ सागरोपमकी स्थिति पेश्तर तो साधिक दिखलाई, बाद तीन, सात, नौ, सतरा, तेरा और पंद्रह सागरोपम एक एक देवलोकमें बढाकर अन्तमें आरणाच्युतकी २२ सागरोपमकी स्थिति लानेका श्रीमान्‌उमास्वातिवाचकजीने ही कहा है. अब श्वेतांबरोंके हिसाबसे ५-६-७-८ के चार और ९-१०-११-१२ के दो, यों करके ६ भाग बराबर होजावेंगे, क्योंकि खुद शास्त्रकारनेही आगेके सूत्रमें 'आरणाच्युतादूर्ध्वं' ऐसा कहकर आरण और अच्युतको एकही गिननेका फर्माया है. दुसरी बात यह है कि जैसा आरणाच्युतका निर्देश देवलोकके क्रम सूत्रमें एकविभक्तिसे है वैसाही आणत और प्राणतका निर्देश भी एक ही विभक्तिसे है, इससे इन चारोंमें दोदोको एक एक देवलोक सरीखे गिन सक्ते हैं. अतः श्वेतांबरोंकी १२ देवलोककी मान्यता मुताबिक तो यह ठीक बैठता है, किन्तु दिगंबरोंको १६ देवलोक माननेसे हाथ पैर लगाना पडते हैं. इससे कबूल करना ही पडेगा कि यह तत्त्वार्थसूत्र श्वेतांबरोंकी मान्यतावाले आचार्यनेही बनाया है.

इस सूत्रका सारा ही चौथा अध्याय श्वेतांबरोंकी मान्यता मुजबका है, और दिगंबरोंकी मान्यतासे खिलाफ है. तबही तो दिगंबराचार्य श्रीमान् अमृतचंदजीने इसी तत्त्वार्थसूत्रपरसे "तत्त्वार्थसार" नामक जो ग्रंथ बनाया है. उसमें और और अध्यायोंपर तो अच्छीतरहसे खुलासा और विस्तृत बयान दिया है, लेकिन उनको इस अध्यायके लिये तो बहुत ही संक्षेप करना पडा।

(४) पांचवें अध्यायमें द्रव्य कहनेके समय श्रीमान्ने "द्रव्याणि च जीवाश्च" कहकर धर्मास्तिकायादि चार अजीव और पांचवां जीव इन पांचोंको द्रव्य कहा है. दिगंबरोंके हिसाबसे कालभी एक नियमित द्रव्य है, किन्तु श्वेतांबरोंके हिसाबसे काल अनियमित द्रव्य है, और यही बात श्रीमान्-उमास्वातिवाचकजीनेभी इधर पांचको नियमित द्रव्य है ऐसा दिखाकर कालको अनियमितद्रव्य दिखानेके लिये आगे पर "कालश्चत्येके" ऐसा कहा, याने कितनेक आचार्य कालको भी द्रव्य मानते हैं, ऐसा कहकर कालका अनियमितपना स्पष्ट दिखाया है. यदि यह ग्रंथ दिगंबरआम्नायका होता तो इधर कालका स्पष्टरूपसे नियमितद्रव्यपना दिखाते. दिगंबरोंने " कालश्च " ऐसा सूत्र रखा है, किन्तु यह साफ २ समझमें आसकता है कि यदि ग्रंथकार कालको नियमित द्रव्य गिनते तो फिर "कालश्च" ऐसा अलग सूत्र अलग स्थानमें क्यों

धरते ? यदि श्रीमान्‌के हिसाबसे काल यह नियमितद्रव्य होता तो पेश्तरसे ही द्रव्यके साथ मिला देके 'द्रव्याणि जीवकालौ च' ऐसा या 'द्रव्याणि जीवाःकालश्च' ऐसा सूत्र करते और अलग अलग सूत्र करनेकी जरूरतही नहीं थी. अतः माननाही होगा कि इसशास्त्रके बनानेवाले आचार्य श्वेतांबर ही थे ।

(५) दिगंबरलोग कालके भी अणु मानते हैं और उसका प्रमाण लोकाकाशके याने धर्माधर्मास्तिकायके प्रदेश जितना असंख्यात मानते हैं. यदि श्रीमान्‌उमास्वातिजी दिगंबरसंप्रदायके होते तो जैसा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गलके प्रदेश गिनानेके लिये "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः" इत्यादि सूत्र बनाये, वैसाही कालके अणुओंकी संख्या भी बतानेके लिए सूत्र बनवाते, या 'धर्माधर्मकालानां' ऐसा कह देते किन्तु किसी भी स्थानमें कालके अणुकी सत्ता या संख्या नहीं दिखाई. इससे भी स्पष्ट जाहिर होता है कि इसग्रंथके कर्ता श्री उमास्वातिजी दिगंबरआम्नायके नहीं, किन्तु श्वेतांबरआम्नायके ही है ।

(६) दिगंबरोंके हिसाबसे भी सामायिक और पौषधमें सावद्यका त्याग तो जरूर ही मानना पडेगा. और उनके हिसाबसे वस्त्रादिकभी सावद्य हैं, तो फिर सामायिक, पौषधवालोंको संस्तारोपक्रमण याने प्रमार्जन प्रत्युपेक्षणक्रिया किया विना संथारा पर बैठना यह अतिचार है सो कैसे होगा ?

कारण कि पेश्तर तो प्रमार्जन करनेके साधनको ही उपकरण ही नहीं मानेंगे तो उपकरण कहांसे होगा? कि जिससे सामायिक, पौषधवाला प्रमार्जन करेगा। यदि कहा जाय कि श्रावकको सावद्यका या परिग्रहका सर्वथा त्याग नहीं है जिससे सामायिक पौषधवाला प्रमार्जनका साधन रख सकता है, किन्तु यह कहना भी उचित नहीं माना जाता. क्योंकि श्रावकको सामायिक, पौषधमें अनुमोदनकी प्रतिज्ञा नहीं है, परंतु सावद्य एवं परिग्रहकी करणकारणविषयमें कुछभी छुट्टी नहीं है, तो फिर ऐसीस्थितिमें सामायिक, पौषध करनेवाले श्रावक उपकरणहीन नग्न ही होने चाहियें। यदि सामायिक, पौषधमें ऐसा नग्नपना माना जाय तो सामायिकपौषधकी योग्यता तो दिगंबरलोग पुरुष और स्त्री दोनोंहीको मंजूर करतेही हैं, तो क्या स्त्रियां भी नग्न होकर सामायिक कर सकती हैं? यदि कहा जाय कि जिसको सामायिक, पौषध करना हो वह चाहे पुरुष हो या स्त्री, नग्न होना ही चाहिये, तो फिर मानना ही पडेगा कि जब स्त्रियां विना वस्त्रके ठहर सकती हैं तो उन्हींको साधपना आनेमें क्या हर्ज है? और जब साधपनेमें कोई हर्ज नहीं है तो फिर उनको केवलज्ञान और मोक्ष भी होनेमें क्या हर्ज है? असल बात तो यह है कि ग्रंथकारमहाराजने श्वेतांबरही होनेसे संस्तारकको परिग्रह न माना और इसीलिये सावद्यके द्विविध त्रिविध त्यागी श्रावक श्राविकाको सामायिक

पौपधमें संस्तारक रखनेका और प्रमार्जन के लिये उपकरण रखनेका निर्देश किया है.

कितनेक दिगंबर लोग यह कहते हैं कि हम मोरपींछी रखते हैं इससे प्रमार्जन करेंगे, किन्तु यह व्यर्थही है, क्यों कि पेश्तर तो गृहस्थलोग सामायिकमें पींछी रखते ही नहीं, यदि मान लिया जाय कि दिगंबरसाधुकी तरह दिगंबरगृहस्थलोग भी पींछी रखेंगे तो यह भी प्रमार्जनके लिये उपयोगी नहीं होगा, क्योंकि शरीर और पैरके चोरस नापसे ज्यादा नापकी कोई चीज होवे तबही प्रमार्जनमें जीवदया होसके, याने रजोहरणादिउपकरण जिस प्रकार श्वेतांबरलोग रखते हैं वैसा रखनेका ही शास्त्रकारको सम्मत है. अतः यह शास्त्र श्वेतांबरआम्नायका ही है।

(७) पाठकों ! दिगंबरोके हिसाबसे जो कोई साधु बीमार होवे तो उसकी वैयावच्च दूसरा साधु नहीं कर सकता है, कारण कि न तो उनके साधुके पास पात्र रहता है कि जिससे वो ग्लानसाधुको आहार पानी या औषध ला दे, और न वस्त्र कंबल आदि ही होते हैं कि जिससे वो ग्लानसाधुको संथारा ही कर दे, अथवा जाडेका बुखार हो तो उस बीमारको ओढनेको दे सके. आखिरकार उन लोगोंने यहां तक माना है कि गृहस्थोंमें ही पोष्यपोषकव्यवहार हो सके, साधुमें तो निर्ग्रंथपना होनेसे पोष्य-पोषकव्यवहार होता ही नहीं. ऐसी हालतमें बीमारकी हिफाजत करनेका कहां से मानें ? अर्थात् इन लोगोंके

हिसाबसे साधुको शिष्य तो बना देते हैं, लेकिन् वह जब बीमार होता है तो वह गृहस्थोंको सौंप दिया जाता है, और गृहस्थलोग उस बीमारसाधुकी हिफाजत करके उसे आरोग्य करते हैं. ऐसी स्थितिमें दिगंबरोंके हिसाबसे वैयावच्च करना कैसे बने ? असलमें विनय और भक्ति तो परस्पर साधुओंमें माननेमें हरज नहीं है, लेकिन उपकरण माननेकी फरज आ पडे इससे परस्पर पोष्यपोषकभावके नामसे वह उडा दिया, यद्यपि संयतमें पोष्य-पोषकभावभी हरज करने वालाही नहीं है. और वैयावच्च तो ग्रन्थकारमहाराजने तीर्थंकरनामकर्मके आश्रवमें और अभ्यन्तरतपमें जताया ही है। इधर तो उमास्वातिवाचकजीने तीर्थंकरनामकर्मका कारण गिनाते वैयावच्चको तीर्थंकरपनेका कारण दिखाया है और तीर्थंकरनामकर्मका बांधना साधु एवं श्रावक दोनोंहीको सरीखा रखा है, याने साधुको तीर्थंकरनाम-कर्मबंधकी मनाई नहीं की, तो ऐसी स्थितिमें याने साधुको बीमार या अच्छे साधुकी वैयावच्च और बरदास्त करनेसे तीर्थंकरनाम बांधनेका कहने वाले ग्रंथ-लेखक श्वेतांबरसंप्रदायके ही हो सक्ते हैं। वैसेही मुहपत्ति न होनेसे द्वादशावर्त्तवन्दन नहीं होगा और वह नहीं होनेसे आवश्यक-प्रतिक्रमण नहीं होगा।

(८) दिगंबरोंके हिसाबसे कोई भी चीज साधुको रखना मना है तो फिर अदत्तादानका विरमण क्यों ?, अर्थात् आदान-ग्रहणमात्रसे विरमण होना चाहिये।

(९) दिगंवरोंके हिसावसे वस्त्रादिकका लेना और धारण परिभोग यह सवही परिग्रह है, अर्थात् ग्रहण ही परिग्रह है, तो फिर उनके हिसावसे तो "ग्रह" से ही विरमण मानना चाहिये, याने "परि" उपसर्ग लगानेकी क्या जरूरत थी ?

(१०) दिगंवरोंको सिवाय शरीरके दूसरा कुछ मान नाहीं नहीं है तो फिर ये लोग साधुके एषणा और आदाननिक्षेप-समिति कैसे मानेगें ? क्योंकि पात्रादि नहीं रखनेसे उनके साधुओंको एक ही गृहसे आहार कर लेना पडता है. जब एक गृहमें ही भोजन कर लेनेका है तो फिर एकगृहान्न छोडना और माधुकरी वृत्ति करना यह कैसे रहा?. जब माधुकरीवृत्ति ही नहीं रहेगी तो फिर एषणासमिति कहां रहेगी ?. जिस तरह पात्रादिक न होनेसे एषणासमिति नहीं वनसक्ती उसी तरह आदाननिक्षेपसमितिभी नहीं वन सक्ती है । क्योंकि कोई भी वस्तु उठाना या धरना उसको प्रत्युपेक्षण और प्रमार्जन करके उठाना या धरना उसका नाम आदाननिक्षेपसमिति है. अब इधर सोचना चाहिये कि जब प्रमार्जन करनेके लिये न तो रजोहरणादि हैं और न उठाने धरनेकी कोई वस्तु ही है, तो फिर आदाननिक्षेपसमिति उनलोगोंके मजहवसे कैसे वनसक्ती है ?। यथायोग्य उपकरण नहीं होने पर यदि रात्रिमें पेशाव या टट्टी जानेका मौका आजाय तो यतना किस तरहसे की जा सके ? क्योंकि लंवा और वडा रजोहरण नहीं होनेसे अंधेरे-

में चलते २ प्रमार्जन करे किससे ? अर्थात् उपकरण नहीं माननेसे ईर्यासमिति भी अमुक टाइममें नहीं बन सक्ती। इसी तरह दिनमें भी यदि कीटिकादिका समूह निकले, उस समय भी विराधनासे बचना उनको मुश्किल होजाता है.

भाषासमितिमें भी मुखवस्त्रिका नहीं रखनेसे बोलते समय संपातिमादिककी हिंसा नहीं रुक सक्ती. पात्रादिक न होनेसे बारिशकी मौसममें भी जलवृष्टि होती रहने पर भी पेशाब, टट्टीके लिये बाहर जानाही पडेगा और यदि साथमें कंबली नहीं होगी तो अप्कायके जीवोंकी भी यतना नहीं हो सकेगी। मतलब यह है कि उपकरण नहीं माननेवालोंके लिये इर्यासमितिआदिमेंसे एक भी समिति अशक्य है, और शास्त्रकार तो पांचो ही समितिको साधुपनकी माता तरीके गिनाते हैं।

(११) दिगंबरोंके हिसाबसे जैनमजहब मैथुनके शिवाय स्याद्वादरूप होने पर और भावप्राधान्यवाला होने पर भी नग्नपना निरपवाद है याने किसी भी अवस्थामें साधु वस्त्र नहीं रख सक्ता या वस्त्रका संसर्गवाला उच्चतरभाववाला होनें पर भी मोक्ष नहीं पा सक्ता (बाडे या म्हेलका संसर्गकी या वस्त्र सिवाय औरका संसर्गकी हरज नहीं है) किन्तु श्वेतांबरोंके हिसाबसे शक्ति और अतिशयसंपन्नके लिये साफ नग्नपना जरूरी है, लेकिन शेष अशक्त और अनतिशायीके लिये संयमरक्षादिका

साधन ही उपकरण हैं। जैसे क्षुधापरिषहको जीतना और आहारकी अपेक्षा नहीं रखना, वैसेही पिपासापरिषहको जीतना और पानीकी अपेक्षा नहीं रखना. यदी शक्ति चले तब आवश्यक ही है, लेकिन् जब अनाहारपने और निर्जल ठहरना नहीं होसके तब शुद्ध आहार, पानीको लेनेपर भी क्षुधा और पिपासापरिषह सहन किया ऐसा कहा जाता है. उसी तरह वस्त्रादिक उपकरणके विषयमें भी संयमादिके लिये शुद्धअल्पमूल्यादिवस्त्रादिक उपकरण रखना नाग्न्यपरिषहजयका बाधक नहीं है; इसी कारणसे तो नाग्न्यको परिषहमें गिनाया. यदि निरपवाद होता तो इसकी गिनती भी मुख्यव्रतोंमें होती।

(१२) पाठको! दिगंबरोंकी मान्यता मुजब शीत और उष्ण परिषह व दंशमशक नहीं जीत सके याने शीतसे डरके धूपमें आवे या धूपसे डरके छायामें जावे या दंशमशकके भयसे कोणेसे बहार नीकले तो केवल इतनी सी ही बातपर साधपना चला जाना मानना पडेगा। क्योंकि शुद्धवस्त्रादिक तो उनको मंजूर नहीं है, फिर अग्न्यादिका आरंभ या सरक जाना क्या मंजूर कर सकेंगे?, ख्याल रखना के अग्निका परिभोग साधुको महाव्रतका बाधक है और अग्न्यादिकके आरंभसे साधपनाका समूल नाश होजाता है।

(१३) दिगंबरोंकी मान्यतानुसार शय्यापरीषह और निषद्यापरीषह कैसे बन सक्ते हैं?, यदि शय्यादिके निर्ममत्वसे

उसपरीषहका सद्भाव मानते हैं, तब तो मकानके सद्भावमें जैसे निर्ममत्वभाव साधु रख सक्ते हैं वैसेही तुच्छवस्त्रादिमें अच्छीतरहसे निर्ममत्वभाव क्यों नहीं रहेगा? और शय्यापरीषह और चर्यापरीषह तो वेदनीय और मोहनीयमें गिने गये है, अन्यथा मोहमें गिनते।

(१४) दिगंबरोंकी मान्यतानुसार मुनिमहाराजको कुछ भी नहीं रखना चाहिये ऐसा है तो फिर वे दर्भादितृण भी कैसे रख सकेंगे?, और जब तृणका रखना ही नहीं है तो फिर उसका उपयोग ही कहांसे हो सके? कि जिससे तृणस्पर्शनामका परीषह दिगम्बरोंकी मान्यतासे होवे। ख्याल रखना जरुरी है कि सतुपभी व्रीहि न पके ऐसा कहकर उपकरणका निषेध किया तो फिर इधर तृणका ढेर कैसे बाधक नहीं होगा? तुष अरु तृणका स्पर्शमें गाढ आगाढका फरक मानें तबतो संसर्गमात्र बाधक नहीं है, किंतु गाढसंसर्गविशेषही बाधक है एसा मानना होगा, यानें मूर्च्छाही नहीं के संसर्गमात्र बाधक मानना होगा असलमें तो जैनमजहबसे दृष्टान्तमात्र साधक ही नहीं है।

(१५) जब साधुओंको वस्त्रादिक रखनेका ही नहीं है तो फिर वस्त्रादिकसे सत्कार होने पर भी अभिमान नहीं आवे ऐसा सत्कार-परीषह सहन करनेकी उनको गुंजाइश ही नहीं है.

पाठकों ! असल मतलब यह है कि शीतोष्णसे लगाकर सत्कारतकके परीषह श्वेतांबरोंकी मान्यतानुसार ही योग्य होसकेंगे।

(१६) ऊपर जितने भी पॉइन्ट बतलाये गये हैं उन सब-से बडा पॉइन्ट "एकादश जिने" इस सूत्रमें है। क्योंकि इस सूत्रमें साफ दिखाया गया है कि श्रीजिनेश्वरमहाराज याने केवलीमहाराजको ग्यारह परीषह होते हैं, अर्थात् क्षुधा और पिपासापरीषह केवलीमहाराजको भी होता है, लेकिन् दिगंबरोंके हिसाबसे केवलीमहाराज आहार पानी लेते ही नहीं हैं, तो फिर क्षुधा और पिपासाका परीषह उनको कैसे होगा?, यदि मान लिया कि उपचारसेही क्षुधा और पिपासा-का परीषह कहा है तो स्वरूपनिरूपणके स्थानमें उपचारको कौन कहेगा? और केवलीमहाराजमें क्षुधापिपासापरीषहका उपचार करनेकी जरूरत भी क्यों? तुम्हारे मतसे ही एकओर तो आहारादिकको दोषरूप गिनकर केवलज्ञानके बाद आहारादिकका अभाव दिखाना है, और दूसरीओर उपचारसे आहारादिकसंभवसे ही होनेवाले क्षुधापरीषहादिक दिखाया जाता है, यह क्या पारस्परिक विरोध नहीं है?. जरा इसे सोचिये!, केवलिमहाराजमें उपचारसे कोई गुणका आरोप करके स्तुतिभी करे, लेकिन् दिगंबरोंके हिसाबसे आहारादि जैसा महा दोषका उपचार करनेसे तो हांसलमें केवलीमहाराजकी निंदा ही होगी, याने आहारादिकको दोष मानके केवलीमहाराजके ये

दिगम्बरलोग निंदकही बनते हैं, कितनेक ऐसा भी कहते हैं कि इधर एक + अ + दश. ऐसा समास करके एकसे अधिक ऐसे दस नहीं, इस प्रकार अर्थ करना. याने एक दस शब्द से ग्यारह लेना और बीचका जो अकार वह निषेध वाचक होनेसे ऐसा अर्थ होगा कि केवलियोंमें ग्यारह परीषह नहीं है, पाठकों! सामान्यबुद्धिवाला आदमीभी यहांपर कह सकता है कि यह अर्थ शास्त्रकारकी आत्माका खून करके किया गया है. क्योंकि ऐसा कूट अर्थ न तो शास्त्रकार कहते हैं, और न शास्त्रकारकी ऐसी शैली भी है. तत्त्वार्थसूत्रमें श्रीगणेशसे इतिश्रीतक किसी भी स्थान पर किसीभी सूत्रमें ऐसा टेडा अर्थ नहीं किया गया है. तो फिर यहां पर ऐसा टेडा अर्थ क्यों? चोथे अध्यायमें एकादशशब्द है उसका क्या ऐसा अर्थ करते हैं?, कभी नहीं, असल बात तो यह है कि शास्त्रकारने कोई टेडा अर्थ नहीं किया है, किन्तु इस तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता ही श्वेतांबरी आचार्य हैं और वे केवलीमहाराजको आहार माननेवाले हैं. इसलिये केवलीमहाराजको क्षुधा और पिपासा परीषह होना गिनकर श्वेतांबराचार्यश्रीउमास्वातीवाचक-महाराजने सूत्रमें ग्यारह ही परीषह कहे हैं. दिगम्बरकी उत्पत्तिके पेश्तर यह सूत्र श्रीउमास्वातीवाचकजीने गुणठाणेमें परीषहका अवतारके प्रसंगसे क्यों न किया हो?

अब इधर दिगंबरोंने पेश्तर तो उपकरणोंको उपकरण-

तरीके माननेकी मनाई की. तब एक ओर तो स्त्रीको चारित्र नहीं होता है, ऐसा मानना पडा, और साथमें बन्ध, निर्जरा और मोक्षका संबंध जो परिणामके साथ था उसके स्थानमें मोक्षादिकका संबंध बाह्यलिंगके साथही करना पडा, और इसी-कारणसे अन्यलिंग और गृहिलिंगसे सिद्ध होनेका उडा कर सिद्धके पन्द्रह भेद भी उडाना पडा. तदनंतर तीर्थंकरकेवली गोचरीके लिये नहीं जाते हैं. और पात्रादिकके अभावसे दूसरे भी आहार, पानी लाकर नहीं दे सक्ते हैं. अतः केवली महाराज आहार नहीं करते हैं ऐसा मानना पडा, और इसीलिये इस सूत्रका ऐसा टेडा अर्थ करनेकी दिगम्बरोंको जरूरत पडी है।

व्याकरणके हिसाबसें 'एकेनाधिका न दश एकादश' ऐसा करना ही अयोग्य है. मध्यपदका लोप करके कर्मधारय तत्पुरुष करना होगा. नञ्का समास दशके साथ करके अदशशब्दको जोडना होगा और ऐसा करनेसे तो अर्थके हिसाबसे आचार्य महाराजको 'नैकादश' ऐसा करना ही लाजिम है, किन्तु ऐसा अयोग्यसमास और इतना टेडा अर्थ करने पर भी दिगंबरी-भाइयोंकी अर्थसिद्धि नहीं हो सक्ती है. क्योंकि परिषह २२ हैं, उनमेंसे ११का निषेध करने पर भी शेष११तो रहते ही हैं, याने केवलीमहाराजाओंको११नहीं होवे तो भी शेष११तो होवेंगे ही।

कभी ऐसा कहा जाय कि श्वेतांबरलोग केवली-महाराजको ११ परिषह मानते हैं उस पक्षको खंडन करनेके

लिये यह सूत्र कहा है तो यह कहना भी लाजिम नहीं हो सक्ता, क्योंकि तुम्हारे ही कथनसे तुमको मंजूर करना पडेगा कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके अव्वलसे ही श्वेतांबरोंका मजहब था, और उसको तत्त्वार्थकर्ताने खंडित किया, किन्तु ऐसा मानने परभी "नैकादश" ऐसा सूत्र बनाना लाजिम था. अन्य लोगोंके हिसाबसे भी ११ नहीं मानने पर भी इधर प्रकरण टूट जाता है, क्योंकि ११ नहीं है तो कितने हैं यह तो दिखाया ही नहीं है. एक हो, दो हो, यावत् नव हो, या दस हो. तब भी ग्यारह नहीं है ऐसा ही कहा जायगा. यदि दश माने जाय तो क्षुधा छोडनी या पिपासा छोडनी उसका नियम नहीं रहेगा. दूसरी बात यह है कि इधर किसमें कितने परिषह हैं यह दिखानेका प्रकरण चला आता है, क्योंकि बादरसंपरायादिमें सभी परिषह होनेका हिसाब दिखाया है तो फिर इधर ग्यारह परिषह नहीं है ऐसा निषेध कहांसे आयगा ?

आगे कर्ममें भी परिषहका अवतार करते शास्त्रकारने 'वेदनीये शेषाः' ऐसा कहकर क्षुधापरिषह और पिपासापरिषहका अवतार वेदनीयकर्ममें दिखाया है, और आपके हिसाबसे भी जिनराजको वेदनीयकर्म नष्ट नहीं हुआ है, तो फिर वेदनीयमें गिना हुआ क्षुधा और पिपासाका परिषह क्यों न हो ? और जब क्षुधा और पिपासाका परिषह केवलीमहाराजको होना मंजूर करोगे तो फिर विना आहार और जलपानके वे परिषह

कहांसे होंगे ? यदि मनमाने परिषह मानना हैं तो फिर केवलीमहाराजमें बावीस ही परिषह मान लेने में क्या हर्ज थी ?

तटस्थमनुष्यकों तो यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि आचार्यमाहाराजनें जिनेश्वरको ग्यारह ही परिषह माने हैं अतः शास्त्रकारश्रीमान्उमास्वातिवाचकजी महाराज श्वेतांबर-पक्षके ही आचार्य थे, न कि दिगंबरपक्षके ।

(१७) जिस तरह 'एकादश जिने' यह सूत्र इन ग्रन्थकार-महाराजके श्वेतांबरपनेंको साबित करता है उसी तरह महाव्रतों-की भावनामें भी 'आलोकितपानभोजनः' अर्थात् अन्न पानी-को देखकर लेना, यह भी श्वेतांबरोंकी ही मान्यतानुसार हो सक्ता है, क्योंकि पात्रके विना लाना और देखना कैसे हो सके? और विना पात्रके देखनेमें तो जमीन पर अन्न पानी गिर-पडता है कि जिससे अहिंसाकी पालना भी नहीं हो सक्ती ।

(१८) शास्त्रकार महाराज यदि दिगंबर होते तो तपस्याके अधिकारमें दिगंबरोंके हिसाबसेभी 'विविक्तशय्यासन' नहीं कहते, क्योंकि उन दिगंबरोंके हिसाबसे शय्या और आसन रखनेका कहां हैं कि जिसके लिये विविक्तस्थानमें ये दो करनेका नाम तप कहें ।

(१९) फिर भी बाह्य और अभ्यंतर उपधिका याने उपकरणादिक और कषायका त्याग करना अभ्यन्तरतपस्या कही इधर यदि उपकरणादिक रखनेका ही नहीं है तो फिर

उसका अभ्यन्तरतपमें त्याग क्यों कहा? और यदि उपधि याने उपकरण महाव्रतका घातकारक है तो फिर तप क्या ? क्या परिग्रहविरमणादिको तप मान सक्ते हैं ?

(२०) यह शास्त्रकार यदि श्वेतांबरी नहीं होते तो 'पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः' ऐसा सूत्र नहीं करते, क्योंकि बकुशमें उपकरणबकुश वही कहाजाता है कि जो उपकरणका ममत्व याने धोना रंगना करे और आकांक्षा व लोभ उपकरणमें रक्खे. जब इसको तो निर्ग्रन्थ मान लिया तो फिर दिगंबर होवे वही साधु होवे यह बात कहां रहेगी ?।

(२१) फिर भी ये सूत्रकार महाराज साधुके विचारमें लिंगका विकल्प कहते हैं. अब दिगंबरोंके हिसाबसे तो पुरुष ही साधु होता है, तो वेदरूपलिंगके हिसाबसे भी विकल्प नहीं रहता है. द्रव्यलिंग भी दिगंबरोंके हिसाबसे भावलिंगकी तरह नियत है तो फिर वेषरूपलिंगकी अपेक्षासे भी विकल्प कहां रहेगा? याने इस ग्रन्थके हिसाबसे वेदरूप या वेषरूपलिंगमें एकही प्रकार नहीं माना है, किन्तु विकल्प माना है, तो इससे स्पष्ट होजाता है कि ये ग्रन्थकार श्वेतांबरी ही हैं. ख्याल रखना के सिद्धमहाराजकी तरह इधर पूर्वभावप्रज्ञापना नहीं है, किन्तु वर्त्तमानभावकी ही प्ररूपणा है,

(२२) अखीरमें सिद्धमहाराजके विषयमें भी शास्त्रकार लिंगका विकल्प दिखाते हैं, तो वहां भी द्रव्यलिंगका अनेका-

न्तिकपणा माननेसे ग्रंथकारका दिगंबरपना उडजाता है, और शास्त्रकार श्वेतांबरी ही है ऐसा साबीत होता है.

ऊपर दिखाये हुए कारणोंसे इस तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता श्वेतांबराम्नायके ही हैं ऐसा मानना होगा. इस विषयमें किसी भी विद्वान्को कुछ भी शंका समाधान करना होवे तो शान्तिसे पक्षपात छोडके खुशीसे करे, क्योंकि दोनों पक्षोंकी दलील सुननेसे ही सत्यका निश्चय करना सुगम होता है.

सूत्रका विशेष.

इस तत्त्वार्थसूत्रको दोनों सम्प्रदायवाले मंजूर करते हैं, लेकिन् दोनों सम्प्रदायमें सूत्रमें कितनाक भेद है, सारे तत्त्वार्थमें श्वेतांबरोंके हिसाबसेही अनुक्रमसे दशों ही अध्यायमें ३५-५३-१८-५४-४४-२६-३४-२५-५, और ७ सूत्र हैं, याने संपूर्ण तत्त्वार्थमें ३४६ सूत्र हैं. तब दिगंबराम्नायके तत्त्वार्थमें क्रमसे दश अध्यायमें ३३-५३-३९-४२-४२-२७-३९ २६-४७ और ९ सूत्र हैं, याने सब सूत्र ३५७ हैं, अर्थात् दिगंबरोंके हिसाबसे सर्वसाधारणमें ग्यारह सूत्र ज्यादे हैं. कौन अध्यायमें श्वेतांबरोंके आम्नायसे ज्यादे सूत्र हैं और कौन अध्यायमें दिगम्बराम्नायसे ज्यादे सूत्र हैं. कौन कौन सूत्र किस किस अध्यायमें कौन कौन मजहबमें ज्यादा हैं वह निम्नलिखित कोष्ठकसे मालूम होगा.

अध्य.	सू.	श्वे.	दि.
१	२१	द्विविधोऽवधिः	०
१	३५	आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ	०
२	१९	उपयोगः स्पर्शादिषु	०
२	५२	०	शेषास्त्रिवेदाः
३	१२	०	हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः
३	१३	०	मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः
३	१४	०	पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि
३	१५	०	प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो ह्रदः
३	१६	०	दशयोजनावगाहः
३	१७	०	तन्मध्ये योजनं पुष्करं
३	१८	०	तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च
३	१९	०	तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः सासामानिकपरिषत्काः
३	२०	०	गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः

अध्या.	सू.	श्वे.	दि.
३	२१	०	द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः
३	२२	०	शेष स्त्वपरगाः
३	२३	०	चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता: गंगासिंध्वादयो नद्यः
३	२४	०	भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशत विस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य
३	२५	०	तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः
३	२६	०	उत्तरा दक्षिणतुल्याः
३	२७	०	भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्
३	२८	०	ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः
३	२९	०	एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरुवकाः
३	३०	०	तथोत्तराः
३	३१	०	विदेहेषु संख्येयकालाः
३	३२	०	भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः
४	७	पीतान्तलेश्याः	०
४	२२	उच्छ्वासाहारवेदनोपपातश्च साध्याः	०

अध्या.	सू.	श्वे.	दि.
४	३०	स्थितिः	०
४	३१	भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपमध्यर्धं	
४	३२	शेषाणां पादोने	०
४	३३	असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च	०
४	३४	सौधर्मादिषु यथाक्रमं	०
४	३६	अधिके च	०
४	३७	सप्त सनत्कुमारे	०
४	४१	सागरोपमे	०
४	४२	अधिके च	०
४	५०	ग्रहाणामेकं	०
४	५१	नक्षत्राणामर्धं	०
४	५२	तारकाणां चतुर्भागः	०
४	५४	चतुर्भागः शेषाणां	०
४	२८	०	स्थितिरसुराणां ०
४	४२	०	लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्
५	३	०	जीवाश्च ०
५	८	जीवस्य च	०
५	२९	०	सद् द्रव्यलक्षणं

अध्या.	सू.	श्वे.	दि.
५	४२	अनादिरादिमांश्च	०
५	४३	रूपिष्वादिमान्	०
५	४४	योगोपयोगौ जीवेषु	०
६	४	शुभः पुण्यस्य	०
६	१८	०	स्वभावमार्दवं च
६	२१	०	सम्यक्त्वं च
७	४	०	वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणासमित्यालोकितपानभोजनानि पंच
७	५	०	क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पंच
७	६	०	शून्यागारनिसेवितावासपरोपधाकारणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच
७	७	०	स्त्रीणां कथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः
७	८	०	मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच
९	२८	आमुहूर्त्तात्	०
९	३८	उपशान्तक्षीणकषाययोश्च	०
९	४०	पूर्वविदः	०

अध्या.	सू.	श्वे.	दि.
१०	३	कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः	०
१०	४	अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः	
१०	७	०	आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्चेति
१०	८	०	धर्मास्तिकायाभावात्

—=—

अधिक सूत्रोंकी समीक्षा

पाठको ! ऊपर दी हुई सूचिसे आपको मालूम हो गया होगा कि श्वेतांबरों और दिगंबरोंमें कौन २ सूत्र किस २ अध्यायमें किस किस जगह ज्यादह या कम हैं।

अब यहां पर जरा सोचनेकी जरूरत है कि दर असलमें सूत्रकारके बनाये हुए सूत्र किस सम्प्रदायनें तो उडाये और किस सम्प्रदायने अपनी ओरसे नये सूत्र बनाकर घुसेड दिये ?

यद्यपि यह बात संपूर्णतया तो ज्ञानी पुरुष और सूत्रकार महाराज ही जान सक्ते हैं, तोभी मेरी मान्यतानुसार इस विषय पर तुलना करनेकी जरूरत मालूम होती है। एवं दूसरे विद्वानोंको भी इस विषयपर अपनी ओरसे समीक्षा करनेकी जरूरत है कि जिससे दूसरे तटस्थलोगोंको भी अपने अभिप्राय स्थिर करनेमें सुगमता हो।

(१) पहिले अध्यायमें श्रुतज्ञानके भेद कथन किये बाद श्वेतांबरलोग २१ वें सूत्रमें "द्विविधोऽवधिः" इस सूत्रको लेते हैं, किन्तु दिगंबरलोग इसको नहीं मानते हैं, और "भवप्रत्ययो" कहके सूत्रको शुरू करते हैं.

अब इस स्थान पर सोचना चाहिये कि जब शुरूमें अवधिका भेद ही नहीं दिखाया तो फिर "भवप्रत्यय" ऐसा विशेषभेदका निरूपण कहांसे आसक्ता है? उद्देशरूप सामान्य-भेदको कहनेके बादही मतिआदिज्ञानरूप प्रत्येक भेद कहे हैं, और मतिज्ञानमें भी इन्द्रियादिभेद कहकरही अवग्रहादि भेद कहे हैं, एवं अवग्रहादि भेदोंके अनन्तरही बहुबहुविधादि भेद दिखाये हैं. और श्रुतज्ञानमें भी दो भेद सामान्यसे दिखानेके बादही उनके विशेषभेद उसी सूत्रमें भी दिखाये हैं. इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आचार्यजीकी शैली तो "द्विविधोऽवधिः" इसी प्रकार सूत्रकी रचना करनेकी है. तिसपर भी दिगंबरी लोग मानते नहीं है यह उनकी मर्जीकी बात है, पर सूत्रको लोप करना भव-भीरुका कार्य नहीं है.

(२) इसी तरह श्वेतांबर लोग नयके सामान्य पांच भेद मानकर आद्य और अन्त्यके नयके भेदोंको दिखानेवाला "आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ" ऐसा ३५ वां सूत्र मानते हैं. श्वेतांबरियोंका मन्तव्य है कि यदि एकही सूत्रसे नयकी व्याख्या करनी होती तो "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्रके

साथही नयकी व्याख्याका सूत्र कर देते। अतः सिद्ध होता है कि ये दोनों सूत्र असलसे ही हैं।

(३) दूसरे अध्यायमें भावेन्द्रियके भेदोंमें उपयोगेंद्रिय-नामक भेदको तो दोनोंही संप्रदायवाले मानते हैं. और जीवका लक्षण भी उपयोग ही है यह 'उपयोगो लक्षणं' इस सूत्रसे दोनों मंजूर करते हैं, और वह उपयोग तो सबही केवलीमहाराजाओंको भी होता है, अतः इधर उपयोगका स्वरूप दिखानेके लिये स्पर्शादिकविषयकाही उपयोग इधर लेना चाहिये, और यह दिखानेको सूत्रकीभी जरूरत ही है।

[४] दूसरे अध्यायमें दिगंबर लोग "शेषास्त्रिवेदाः" ऐसा सूत्र मानते हैं, किन्तु श्वेतांबरियोंका कहना ऐसा है कि "गति-कषायलिंग०" इत्यादि सूत्र जोकि औदायिकके इक्कइस भेदको दिखानेवाला है, उसमें तीन वेद कहे हैं. और इधर नारक और संमूर्च्छजको नपुंसकवेदही होता है और देवताओंमें नपुंसकवेद नहीं होता. जब ऐसे दो सूत्र कह दिये गये तो अपने आप ही निर्णय होगया कि मनुष्य और तिर्यंच जो गर्भज हैं वे वेदवाले होनेसे तीनोंही वेदवाले हैं. इस तरहसे अर्थापत्तिसे स्पष्ट बात थी, उसको दिखानेके लिये सूत्रकी कोई जरूरत नहीं है। और ऐसा नहीं मानेंगे तो औदारिकादिक औपपातिक नहीं होता है अमुकको अमुक योनी और अमुक जन्म नहीं है, अमुक सापवर्त-नीय आयुष्यवाले हैं, ऐसा भी सूत्रकारको दिखाना होगा।

[५] तीसरे अध्यायमें दिगंबर लोग १२ वें सूत्रसे हेमार्जुनेत्यादि करके इक्कइस सूत्र "द्विर्धातकी खण्डे" इससूत्रके बीचमें नये मानते हैं. सूत्रकी शैलीको देखनेवाले और अर्थको सोचनेवाले तो इधर स्पष्टही समझ सक्ते हैं कि ये सब सूत्र दिगंबरोंने नयेही दाखिल कर दिये हैं दर असलमें तो यह तत्त्वार्थसूत्र संग्रहग्रंथ है, इसालिये इसमें विस्तारसे कथन करनाही अनुचित है. और यदि कुछ भी विस्तार करना होता तो जीवा धनुःपृष्ठ बाहा प्रपातकुंड परिधि गणितपद इत्यादिकका कथन करते। किन्तु वर्णनग्रंथकी तरह वर्णन करना ऐसे ग्रंथमें कदापि नहीं हो सक्ता। हिमवदादिपर्वतका वर्ण कहाजाय और उसमें न तो उसका आयाम मान कहा और न शिखरका मान और न शिखरोंकी उच्चतादि दिखावे, और न शिखरकी संख्याभी दिखलाई, १२ वें सूत्रमें हेमार्जुनेत्यादि कहकर आगेके सूत्रमें "उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः" ऐसा कह देना क्या उचित है? क्या सब वर्षधर मानमें सरीखे हैं? कदापि नहीं. तो फिर कुछ भी खुलासा किये विनाही ऐसा सूत्र कैसे किया? १४वें सूत्रमें "तेषामुपरि" ऐसा कहा गया, किन्तु उपरके भागमें यह ह्रद कहां पर है? पूर्व पश्चिम मध्यमें हैं यह तो जतलाना था, १८ वें सूत्रमें "तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च" कहा तो इस सूत्रसे दोनें दोनें ह्रद और पुष्कर हैं ऐसा क्यों नहीं होगा? यावत् आयामादिकीही द्विगुणता लेनी, ऐसा कहांसे होगा? यावत् अवगाहमें दोगुना क्यों न होगा. १९

वें सूत्रमें देवियां सामानिक व परिषद्‌वाली हैं ऐसा दिखलाया गया है, तो फिर सामानिक और पारिषद्यकी संख्या कहांसे लेनी ? इतनाही नहीं, बल्कि इससे तो नियम हो जायगा कि देवियोंको अभियोग अनीक आत्मरक्षक आदिका अभावही है. २०वें सूत्रमें गंगाआदि नदियोंको हिमवदादिके मध्यमें रहनेवाली या जानेवाली दिखाई हैं, किन्तु वे वर्षधरमें पूर्वकी ओर जाती हैं या पश्चिमकी ओर ? उत्तरकी ओर बहती हैं या दक्षिणकी ओर ? वर्षधर ६ हैं और नदियां १४ तो व्यवस्था कैसे होगी ? और उस व्यवस्थाका सूचक एकअक्षर भी सूत्रमें नहीं दिया गया है, यह बात भी विचारणीय है। इक्कइसवें और बावीसवें सूत्रमें पूर्व और पश्चिम जाना कहागया यह कहांतक ठीक है ? क्योंकि गंगा, सिंधु इत्यादि नदियां भरत एरवत दक्षिण उत्तरमें आयगी इसका क्या? और वर्षधरपर भी हरएक नदी अलग २ दिशाओंमें कितनी २ दूर और किस २ दिशामें पीछे बहती है इसका तो इधर कुछ वर्णन भी नहीं है। तेवीसवेंसूत्रमें गंगा, सिंधुका परिवार तो दिखाया, किन्तु और नदियोंका परिवार कितना है ? विदेहके विभाग किससे होते हैं ? उसका प्रमाण क्या है ? इत्यादि बातोंका इधर नाम निशानही नहीं है। २४ और २५ वें सूत्रोंमें भरतादिकका इषुका विस्तार तो दिखाया, किन्तु आयाम जीवा धनुःपृष्टकी बात तो दिखाईही नहीं? । २७ और २८ वें सूत्रोंमें ६ आरेके स्वरूपको दिखाते आयु शरीर

आदिका जिकर नहीं करके भूमिरसादिकी वृद्धि, हानि और अवस्थितता कही गई है, यह कहां तक शोभा देगी?, इसका विचार तो अकलमंदही करसक्ते हैं। २९, ३० और ३१ वें सूत्रोंमें स्थिति दिखाई गई है, वहां पर अंतरद्वीप और भरतऐरवतकी स्थितिका जिक्र तक भी नहीं किया गया है, और महाविदेहमें संख्येयकाल कहा गया यहभी कितना अनुचित है?, क्योंकि शीर्षप्रहेलिका भी संख्येयमें है, और महाविदेहमें पूर्वकोटिसे ज्यादा आयुष्यही नहीं है। सूत्र३१ वेंमें भरतका विष्कंभ तो दिखलाया है; किन्तु न तो वैताढ्यका नाप दिखलाया, और न उसकी शिखरसंख्या आदि दिखाये. और न भरतके लिये दक्षिण उत्तर विभाग और मानही बतलाये गये. ये तमाम हालात देखतेही विद्वान्‌लोग कहते हैं कि ये सब सूत्र दिगंबरियोंनेही आचार्यमहाराजकी कृतिरूप मणिमालामें कांचके टुकडेकी तरह दाखिल कर दिये हैं. और उन पंडितोंका कथन हमको भी मंजूर करना पडता है. आगे चलकर पंडित लोग कहते हैं कि दिगंबरियोंनेही ३२ वां सूत्र "द्विर्धातकीखंडे" ऐसा रखा है, तो इधर १० वें और ११ वें सूत्रमें कहे हुए भरतादि, हिमवदादि वर्ष और वर्षधर तो धातकीखंडमें और पुष्करार्धमें दुबारा हैं यह मान सक्ते हैं, किन्तु इन दिगंबरियोंके हिसाबसे तो धातकीखंड और पुष्करार्धमें भरतका भाग द्विगुणा लेना होगा, और यह बात किसीको भी मान्य नहीं

हो सक्ती. होवे कहां से ?, क्योंकि दिगंबरियोंने स्वयं सूत्र बना कर श्रीमान्की सूत्रमालामें दाखिल कर दिये हैं।

चौथे अध्यायमें "पीतान्तलेश्याः" यह सातवां सूत्र दिगंबरियोंको मंजूर नहीं है जब दोनों संप्रदायवाले भवनपति और व्यन्तरदेवोंको कृष्ण, नील, कापोत और तेजो ऐसी चार लेश्या मानते हैं, और यह भी मानते हैं कि ज्योतिष्कदेवको सिर्फ तेजोलेश्या याने पीतलेश्याही है, तो फिर इधर भवनपति और व्यन्तरकी चार लेश्या दिखानेवाला सूत्र क्यों न माना जाय ? दिगंबरियोंने भवनपति और व्यन्तरको लेश्या नहीं मानी हैं ऐसा तो नहीं है, किन्तु दूसरा सूत्र जोकि "तृतीयः पीतलेश्यः" अर्थात् ज्योतिष्कनामक तीसरीनिकायवालेंको तेजोलेश्याही है, ऐसा दिखानेके लिये जो सूत्र था उस स्थान पर दिगंबरियोंनें "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" अर्थात् आदिकी तीन निकायके देवोंको पीतान्तलेश्या होती है, ऐसा सूत्र बनाया है, अब इधर स्पष्टही है कि जब ज्योतिष्कदेवोंको तेजो-लेश्याके सिवाय दूसरी लेश्याएं है ही नहीं, तो फिर आदिकी तीन निकायोंको पीतान्त याने कृष्ण, नील, कापोत और तेजो-लेश्याएं हैं, ऐसा कहना कहांसे सत्य होगा ?, और यदि ऐसा गोटाला करनाही है तो फिर ऐसाही क्यों नहीं कह देते कि "देवानां षड् लेश्याः" याने देवोंको ६ लेश्याएं हैं, अथवा सूत्रकी भी क्या जरूरत है ? ! इससे स्पष्ट होता है कि

श्वेतांबरियोंने जो असलसूत्र 'पीतान्तलेश्याः' ऐसा था वही मान्य रखा है, और वहही उचित है।

(७) चौथे अध्यायमें श्वेतांबरोंने 'स्थितिः' ऐसा सूत्र देवताओंकी स्थितिका अधिकारके लिये माना है, तो उधर दिगंबरोंनें उस अधिकारके सूत्रको उडा दिया है. खूबी तो यह है कि पीछेका साराही अध्याय देवतादिकीही स्थितिको प्रतिपादन करता है, ऐसा तो दोनों संप्रदायवाले मानते हैं. तिस परभी दिगंबर लोग इस अधिकारको मंजूर नहीं करते. व्याकरण-आदि शास्त्रोंमें भी नियम है कि जहां पर वारवार अनुवृत्ति लाकर अर्थ करना पडे वहां पर अधिकारसूत्र करते हैं, तो फिर इधर साराही भाग स्थितिका होने पर इस अधिकार-सूत्रको दिगंबर लोग क्यों नहीं मानते हैं?, जिस प्रकार आगेके अध्यायोंमें अधिकारसूत्र है उसी प्रकार इधर भी लेना ठीक है, 'स आश्रवः' 'स बंधः' सूत्रोंकी तरह स्थितिका अधिकारसूत्र मानना उचितही है। अन्यथा सागरोपमे, अधिके, सप्त, त्रि—रधिकानि तु०, एकैकेन०, अपरा०, पूर्वा पूर्वानन्तरा, इत्यादि सूत्रोंमें समन्वय करना जरा मुश्किल होगा, याने यह स्थितिकालही है, अन्तर या अविरहादिकका काल नहीं है, ऐसा कैसे होगा ?, और "नारकाणां० व्यन्तराणां च, ज्योतिष्काणां च, लोका० सर्वेषां" इन सूत्रोंमें अध्याहार करना भी मुश्किल होगा। अतः इन कारणोंको सोचनेवाला मनुष्य तो "स्थितिः" इस अधिकारको

दिखानेवाले सूत्रको मंजूर किये विना कदापि नहीं रह सकता।

(८) जिस प्रकार दिगम्बरोंने "स्थितिः" इस अधिकार सूत्रको मंजूर नहीं किया उसी प्रकार "सौधर्मादिषु यथा-क्रमं" यह सूत्र भी दिगम्बरोंने उडा दिया है, यद्यपि दो सूत्रोंमें सौधर्मैशान और सनतकुमार माहेन्द्रका ग्रहण किया है, किन्तु त्रिसप्तेत्यादिसूत्रमें किस २ देवलोककी कितनी २ स्थिति है यह नियम करना तथा "अपरा पल्योपममधिकं" जरूर इस सूत्रमें और आगेके सूत्रोंमें भी व्यवस्था करनेमें कठिनता होगी. जिस प्रकार "वैमानिकाः' और 'उपर्युपरि" ये अधिकारसूत्र मंजूर किये हैं, उसी तरह यह अधिकारसूत्र भी मंजूर करना सर्वथा उचित है, कि जिससे सौधर्मैशानादिकके नाम भी नहीं कहने पडेंगें, और दूसरे सूत्रोंमें व्यवस्थापूर्वक समन्वय भी हो सकेगा।

(९) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही संप्रदायोंकी मान्यतानुसार असुरकुमारके इन्द्रोंकी और शेष असुरोंकी स्थिति-में खास फर्क है, तो भी दिगम्बरोंनें सर्वअसुरोंकी सामान्य असुरशब्द लेकर ही स्थिति बतलाई है, तथा दक्षिण उत्तर के इन्द्र, शेष कुमार और उनके इन्द्रोंकी भी स्थिति कही, किन्तु असल सूत्रोंको उडा दिये हैं इसी तरहसे ग्रह, नक्षत्र, तारागणकी स्थिति, एवं उनकी जघन्य उत्कृष्ट स्थितिके सूत्र भी उडा दिये हैं. इस प्रकार इस चौथे अध्यायमें उन्होंने सब मिलाकर १३ सूत्र उडा दिये हैं।

(१०) चतुर्थअध्यायके अखीरके भागमें दिगम्बरोंने " लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां " ऐसा सूत्र माना है. इस सूत्रको श्वेतांबर समाज मंजूर नहीं करती है, उसका सबब यह है कि यदि श्रीमान् उमास्वातिजीमहाराजको लोकान्तिककी स्थिति दिखानी होती तो लोकान्तिकोंका स्थान और भेद बतलाया वहांपर ही बता देते. दूसरी बात यह है कि लोकान्तिकका प्रकरण छोडकर लोकान्तिककी बात अन्यत्र उठाना, यह भी सूत्रकारकी शैलीके अनुकूल नहीं है. तीसरी वात यह है कि यदि लोकान्तिककी स्थिति ही कहनी होती तो ब्रह्मदेवलोककी स्थिति बतलाई वहां परही कह देते चौथी बात यह है कि-- " लोकान्तिकानां " ऐसा कहनेसे सभी लोकान्तिककी स्थिति आ जाती है तो फिर " सर्वेषां " इस पदकी जरूरत ही क्या थी? इन कारणोंसे स्पष्ट होता है कि यह सूत्र श्रीमान् ग्रन्थकारमहाराजका बनाया हुआ नहीं है. किन्तु किसी अल्पबुद्धिवालेनें स्वकल्पनाका फलरूप यह सूत्र बनाकर श्रीमान्के सूत्रोंमें घुसेड दिया है।

[११] चतुर्थअध्यायमें देवताओंके विषयमें गति शरीर आदिकी हानि उत्तरोत्तरदेवताओंमें है ऐसा दिखानेका सूत्र है जिसे दिगम्बरलोग भी स्वीकार करते हैं, किन्तु देवतामें उच्छ्वासआहारादिकी तारतम्यता दिखानेके लिये जो सूत्र " उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः " [४-२३]

श्वेताम्बरोंने कथंचित् माना है वह दिगम्बरोंने उडा दिया है। जब देवताके स्थितिलेश्यादिके विषयमें अधिकता और न्यूनता दिखानेवाले सूत्र मानलिये गये तो फिर खुद स्वरूप दिखानेका सूत्र क्यों उडा दिया गया ? यह विचारणीय है।

[१२] पांचवें अध्यायमें श्वेतांबरलोग " द्रव्याणि जीवाश्च " ऐसा एकही सूत्र मानते हैं। किन्तु दिगम्बरी लोग "द्रव्याणि" और 'जीवाश्च' ऐसे दो सूत्र मानते हैं। श्वेतांबरियोंका कहना है कि यदि धर्माधर्मादि अजीवको स्वतंत्र ही सूत्र करके द्रव्य तरीके गिनाया जाय तो 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला द्रव्याणि' ऐसा इकट्ठा ही सूत्र करना था, और जीवको भी पीछे ही कहना था, ताकि पांचोंहीकी द्रव्यसंज्ञा होजाती। याने धर्मादि पांचको अजीवकाय दिखाकर बादमें उनके द्रव्यपनको दिखाते हुए जीवको साथमें लेकर पांचों हीका द्रव्यपन दिखाया है। इससे तीन सूत्र करनेकी कोई जरूरत ही नहीं रहती है, और जो दो सूत्र हैं वे ही उचित हैं।

पाठकों ! इकट्ठे सूत्रको अलग २ कर देना इसमें सूत्रकारकी बडीमें बडी आशातना करना है। क्योंकि कोई भी विद्वान् यदि उसे देखे तो वह फोरन कर्ताको ही गल्तीवाला मानेगा।

(१३) इसी अध्यायके 'असंख्येयाः प्रदेशा' इस सूत्रके स्थानमें दिगंबरलोग 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां' ऐसा एकही सूत्र मानते हैं, किन्तु श्वेतांबरीलोग 'असंख्येयाः

प्रदेशा धर्माधर्मयोः' और 'जीवस्य च' ऐसे दो विभागसे दो सूत्र अलग २ मानते हैं। श्वेतांबरियोंका कहना ऐसा है कि यहां पर धर्मशब्दसे धर्मास्तिकाय और अधर्मशब्दसे अधर्मास्तिकाय लेना है, किन्तु जीवशब्दसे जीवास्तिकाय नहीं लेना है, अतः दोनोंका सूत्र अलग होना ही उचित है। 'जीवस्य' ऐसे एकवचनसे ही यदि एक चीज जीव 'प्रमाणे' ऐसा सूत्रके द्विवचनसें दो प्रमाणकी तरह आजाय तो फिर एकशब्दका प्रयोग सूत्रमें लाना यह सूत्रकारकी खामी दिखानेवाला होता है।

श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों ही असंख्यातकी संख्याके असंख्य भेद मानते हैं, किन्तु यहां पर इसमें कौनसा असंख्यातका भेद लेना इसका निर्णय नहीं होता है। जिससे धर्माधर्मका प्रदेशमान आदिमें ही कथन करके बादमेंही उसीके बराबर प्रदेश हरएकजीवके भी कहना योग्य होगा। और धर्माधर्मके असंख्य प्रदेशका मान तो "लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्रसे भी निश्चित होता है।

इधर यह भी सोचने का है कि यदि 'जीवस्य च' ऐसा सूत्र अलग नहीं करना होता और चकारसे असंख्यातशब्दकी अनुवृत्ति नहीं लानी होती तो पीछे 'आकाशस्य चानन्ताः' ऐसा सूत्र करके 'संख्येया अपि पुद्गलानां' ऐसा सूत्र करते, याने पुद्गलके प्रदेश दिखानेवाले सूत्रमें 'असंख्येयाः' यह पद करनेकी जरूरतही नहीं होती. लेकिन यदि 'जीवस्य च' यह

सूत्र अलग होकर असंख्येयशब्द चकारसे अनुवृत्त किया तो फिर 'चानुकृष्टं नोत्तरत्र' ऐसा नियमसें यह असंख्येयशब्द आगे नहीं चल सक्ता है, जिससे पुद्गलके सूत्रमें असंख्येयपद कहनेकी जरूरत हुई.

शास्त्रकारकी शैली ऐसी ही है कि चशब्दसे जिसकी अनुवृत्ति लावे उसको आगे नहीं चलावे. और इसीसे ही औपशमिकके दो भेद जो सम्यक्त्व और चारित्र नामके थे, उनको क्षायिकके भेदोके वक्त चशब्दसे लिया तो फिर क्षायोपशमिकके अट्ठारहभेदोंमें सम्यक्त्व और चारित्र ये भेद अनुवृत्तिसे नहीं लाये गये, किन्तु स्पष्टशब्दसे ही वहां कहे. इसी तरहसे इधर 'जीवस्य च' इससूत्रमें चशब्द कहकर असंख्येयकी अनुवृत्ति की है इससे वह आगे नहीं चल सक्ता. याने पुद्गलसूत्रमें 'असंख्येय' पद लगानेंसे ही साबित होता है कि सूत्रकारनें 'जीवस्य च' यह सूत्र किया था, और इन दिगम्बरोंनें उस सूत्रकों उडा दिया और धर्माधर्मकी साथ ही 'एकजीव' कह कर मिला दिया.

(१४) फिर भी दिगम्बरलोगोंने 'सद् द्रव्यलक्षणं' ऐसा सूत्र 'भेदसंघाताभ्यां' सूत्रके बाद और 'उत्पादव्यय' इस सूत्रके पेश्तर माना है। किन्तु श्वेतांबरलोग इस सूत्रको नहीं मानते हैं। श्वेतांबरियोंका कहना ऐसा है कि यदि सूरीश्वरजीको द्रव्यके लक्षणमें सत्त्वपना लेना होता तो 'गुणपर्यायवद्

द्रव्यं' ऐसा जो द्रव्यका लक्षण कहा उसी स्थान पर या उसीसूत्रमें वे समावेश करके कह देते। इसके सिवाय यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह सूत्र ही जैनमजहबकी मान्यतासे खिलाफ है। इसका कारण यह है कि जिनेश्वरमहाराजको माननेवाले द्रव्य गुण और पर्याय ऐसे तीनों को सद् मानते हैं, और सद् द्रव्यलक्षणं ऐसा सूत्र करनेसे गुण और पर्याय दोनों असत् होजाते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु वैसा द्रव्यका लक्षण यदि इष्ट होता तो "गुणपर्यायवद् द्रव्यं" यह सूत्र अलग क्यों करते? मतलब यह है कि 'सद् द्रव्यलक्षणं' सूत्र न तो जैनमन्तव्यताका है, और न यह सूत्र-रचना ही अनुकूल है। श्वेतांबरी लोग तो कहते हैं कि यह सूत्र यदि उमास्वातिजीको इष्ट होता तो 'सद् द्रव्यं' इतना ही लक्षणसूत्र बस था। उदाहरणार्थ—'गुणपर्यायवद् द्रव्यं' इस सूत्रमें लक्षणशब्दके प्रवेशकी जरूरत ही नहीं है. उसी प्रकार यहां पर भी लक्षणशब्द कहनेकी कुछभी जरूरत नहीं है। क्योंकि उद्देश्यविधेय-विधिसे ही लक्षणका भी भान होजाता था। इसके सिवाय दूसरे दर्शनकार भी अपने सूत्रमें लक्षणशब्दका प्रयोग कभी भी नहीं करते हैं। तो फिर इधर लक्षणका अर्थ आजाने पर भी लक्षणशब्दका प्रयोग करना सूत्रकारको तो लाजिम नहीं है। 'उपयोगो लक्षणं' इस सूत्रमें तो लक्ष्य का निर्देश नहीं होनेसे लक्षण शब्द कहना लाजिम ही है. और इधर तो लक्ष्यकी तौर

पर द्रव्यशब्द कहा ही है।

इन ही पांचवें अध्यायमें 'तद्भावः परिणामः' इस सूत्रके पीछे श्वेतांबरोंने 'अनादिरादिमांश्च, रूपिष्वादिमान्, योगोपयोगौ जीवेषु' ये तीन सूत्र परिणामके भेदोंको दिखाके आदिवाले परिणाम रूपीमें साक्षात् दिखाके अनादिपरिणामका सद्भाव शेषमें सूचित करते हैं। इनको सम्यक्त्व, जीव, उपयोग आदिमें लक्षण और भेदो दिखलानेकी रीतिसे योग्य होनेपर भी दिगम्बरलोग नया करनेकी आदतसे ही मंजूर नहीं करते हैं। इन सूत्रोंके अभिधेय को वे लोग भी मंजूर करते हैं।

पांचवें अध्यायके आखीरके भागमें दिगम्बरलोग "तद्भावः परिणामः" इस सूत्रसे अध्यायकी समाप्ति करते हैं, किन्तु श्वेताम्बरलोग "अनादिरादिमांश्च" "योगोपयोगौ जीवेषु" ऐसा कह कर परिणाम के तीन सूत्र मानते हैं।

श्वेताम्बरियोंका ऐसा कहना है कि परिणामवादही जैन-मजहबकी असली जड है, और उसके अनादिसादिपनसे अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी व्याप्ति सिद्ध होती है ऐसा दिखाकर सम्पूर्णतया स्वाद्वादका ख्याल दिया गया है, एवं वह परिणाम रूपी अरूपीमें और जड चेतन में किस प्रकार है, यह दिखलाना जरूरी समझ करही आचार्यश्रीने उस अधिकारको संग्रहमें लिया है

(१५) आगे छट्ठे अध्यायमें मनुष्यके आयुष्यके आश्रव-में 'अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य' ऐसा

क्रोध, मान, माया और लोभके अल्पत्वको दिखानेका है, वहां दिगम्बरी लोग अल्पादिका एक सूत्र और स्वभावमार्दवका दूसरा मानकर सूत्र व्यर्थ ही अलग २ करते हैं, और स्वाभाविक आर्जव जो तिर्यग्योनिआयु रोकके मनुष्यायुका विधान करनेमें जाहिर है, उसको छोड देनेकी अनार्जवता दिखाते हैं। इसी तरह देवायुपमें 'सम्यक्त्वं च' ऐसा भी फजुल है, सम्यक्त्ववाले सब आयु बांधते ही नहीं, और सम्यक्त्ववान् देव और नारकी भी है, वे देव नहीं होते हैं।

छट्टे अध्यायमें मनुष्यआयुके बन्धका अधिकारमें श्वेताम्बरियोंने " "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवत्वं च मानुपस्य " ऐसा एक सूत्र माना है। तब दिगम्बरियोंनें उसके दो हिस्से कर " अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुपस्य " और " स्वभावमार्दवं च " ऐसे दो सूत्र बना डाले। इस सूत्रका निष्प्रयोजन विभाग करदेना और मनुष्यपनके कारणोंमेंसे सरलतारूप कारणको उडा देना यह दिगम्बरियोंको कैसे उचित मालूम हुआ होगा? । इस विषयमें दिगम्बरलोग यदि अपना अभिप्राय जाहिर करेंगे तो तटस्थलोगोंको सोचनेका प्रसंग प्राप्त होगा।

सरलपनसे मनुष्यका आयुष्य बंधता है यह बात दिगम्बरियोंकोभी स्वीकार्य है; तो फिर उनलोगोंने यहां परसे "आर्जव" पद क्यों निकाल दिया ?, यदि कोई ऐसा कहे कि यह पद तो

श्वेताम्बरियोंने ही दाखिल कर दिया है, तो ऐसा कहना भ्रम-मात्रही है, क्योंकि "माया तैर्यग्योनस्य" इस सूत्रसे जब मायाका फलरूप आयु बतलाया तो फिर आर्जवताका फलरूप आयुष्य बताया जाना आवश्यक ही है। इसके सिवाय मार्दवके साथ आर्जव लेना भी उचित ही है।

१६ छट्ठे अध्यायमें दिगम्बरियोंने "सरागसंयमा" इत्यादि देवताके आयुष्यके कारणोंको दिखानेवाले सूत्रके आगे फिर भी "सम्यक्त्वं च" ऐसा कहकर एक सूत्र विशेष माना है। श्वेताम्बरी लोग इस सूत्रको नहीं मानते हैं। श्वेताम्बरियोंका कहना ऐसा है कि "मनुष्य या तिर्यंचका जीव सम्यक्त्वकी स्थितिमें यदि आयुष्य बान्धे तो अवश्य ही देवताका आयुष्य बांधता है।" किन्तु "सम्यक्त्वं च" इस सूत्रसे देवताके आयुष्य-का कारण सम्यक्त्व है ऐसा दिखलाना सर्वथा अनुचित है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वसे सिर्फ वैमानिकका ही आयुष्य बांधा जाता है, किन्तु यहां पर तो सामान्यसे चारों-ही प्रकारके देवताका आयुष्य कैसे बांधे? यह लेनेका है। यद्यपि यहां पर संयम और संयमासंयम लेकर श्रावक और साधुके लिये कहा है, किन्तु देशविरति और सर्वविरति सम्यक्त्व पूर्वक ही लेना ऐसा इधर नियम नहीं है। जैसे सम्यक्त्व-सहित श्रावकपना या साधुपना धारण करनेवाला देवलोकका आयुष्य बांधनेका आश्रव करता है, वैसे ही सम्यक्त्वरहित

कोई अभव्य या मिथ्यादृष्टि देशविरति या सर्वविरति धारण करनेवाले होते हैं, और इससे वे अभव्यादिक ऐसी देशविरति आदिकी दशामें चारों प्रकारके देवोंमें किसी भी प्रकारके देवके भवसम्बन्धी आयुष्यका आश्रव करते हैं, अर्थात् देशविरति आदि द्रव्य और भावसे बनते हैं, और इनसे चारों ही प्रकारका देवआयुका बन्ध होता है, किन्तु सम्यक्त्व तो सिवाय वैमानिकके दूसरे देवआयुबंधका कारण बनता ही नहीं। अतः सामान्य देवआयुके आश्रवमें सम्यक्त्वको लेना सर्वथा अनुचित है। यदि मानलिया जाय कि विशेषदेवोंके आयुका कारण हो और उसे सामान्यमें लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं है, किन्तु यहां पर तो देव और नारकोंको देवताके आयुष्य सम्बन्धी बन्धाश्रव है ही नहीं और देव व नारकोंको पूर्वभवसे चला आया क्षायिक क्षायोपशमिक ही है ऐसा नहीं है और न वे जीव सम्यक्त्वयुक्त अवस्थामें भी दूसरी जिन्दगीके आयुका आश्रव और बन्ध करे तब भी देवलोकके आयुष्यका आश्रव और बन्ध कर सक्ते हैं। साफ साफ बात है कि संयम और संयमासंयम जिस जिस गतिमें जिस जिस जीवको है वे जीव यदि आयुका आश्रव और बंध करे तो अवश्य देवआयुकाही आश्रव और बंधकरे ऐसा नियम है, लेकिन् ऐसा कभीभी नियम नहीं हो सक्ता है कि किसीभी गतिका कोईभी जीव सम्यक्त्ववान् होवे तो देवका आयुष्यका ही आश्रव और बंध

करे, क्योंकि देव और नारक सम्यक्त्ववान् तो होते भी है परंतु वे देवायुका कभीभी आश्रव और बंध कर सक्के ही नहीं, तो फिर ऐसी अवस्थामें 'सम्यक्त्वं च' यह सूत्र कैसे हो ! लेनाभी हो तो सरागसूत्रमेंही लेना होगा और 'च' तो इधर फजुलही है । इन कारणोंसे स्पष्ट होजाता है कि वास्तवमें दिगम्बरियोंने श्रीमान्‌की कृतिमें इस सूत्रको घुसेड दिया है, ऐसा श्वेताम्बरी लोग मानते हैं ।

(१७) आगे अध्यायसातवेंमें " तत्स्थैर्यार्थं भावनाः " ऐसा सूत्र कह कर महाव्रतकी पांच पांच भावना दिखानेवाला सूत्र दोनोंहि सम्प्रदायवाले स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके सिवाय भी दिगम्बरलोग प्रत्येक महाव्रतकी पांच २ भावना दिखानेके लिये पांच सूत्र और मानते हैं। इस पर श्वेताम्बरियों-का कहना ऐसा है कि यदि आचार्यश्रीको प्रत्येकमहाव्रतकी भावना आगे सूत्र द्वारा दिखलानी होती तो पंच पंचही के साथ सूचना कर देते । जैसा कि दूसरे अध्यायमें औपशमिका-दिके भेदोंकी संख्या दिखाकर भेद दिखाना था तो "यथाक्रमं" कहा । आगे पर भी देशविरतिके अतीचारोंके वख्त "व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्" ही कहा । अर्थात् संख्यासे कहनेके बाद जब अनुक्रमसे दिखानेका होता है तो वहांपर 'यथाक्रमं' शब्द कहते हैं । आठवें अध्यायमें बन्धके अधिकारमें ज्ञानावरणादि-भेदोंकी पांचनौआदि संख्या बतलाई, और आगे उनके भेद

गिनानेके लिये सूत्र करनेका था तो वहां परभी यथाक्रमं ऐसाही कहा गया है। नवमें अध्यायमें प्रायश्चित्तादिके भेदोंकी संख्या दिखानेके लिये " नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमम् " ऐसा सूत्र करते समय भी आगे भेदोंका स्पष्टनिर्देश करनेका होनेसे 'यथाक्रमं' कहा है। इससे यह बात निश्चित होती है कि जहां-पर संख्यासे भेद दिखाकर विवेचनपूर्वक भेद दिखाना होता है वहांपर श्रीमान् आचार्यमहाराज 'यथाक्रमं' शब्द रखते हैं। किन्तु यहांपर भावनाके लिये 'पंच पंच' कहकर ' यथाक्रमं ' नहीं कहा गया, इससे स्पष्ट होता है कि महाव्रतोंकी भावनाओं-के सूत्र आचार्यश्रीके बनाये हुए नहीं हैं। आचार्यश्रीकी शैली तो ऐसी है कि जहांपर सिर्फ भेद ही की संख्या दिखानी हो और भेदका विवेचन नहीं करना हो वहां पर 'यथाक्रमं' नहीं कहते हैं। जैसा कि दूसरे अध्यायमें क्षायिकादिभेदोंमें दानादि-लब्धि गतिकषायलिंगलेश्यादिककी संख्या दिखाई, किन्तु आगे विवेचन नहीं करना था तो वहां पर ' यथाक्रमं ' नहीं कहा। वैसेही छट्ठे अध्यायमें भी आश्रवके बयानमें 'इन्द्रियक-षायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः' इस सूत्रमें इन्द्रियादिकके भेदकी संख्या तो विषयमें दिखाई, किन्तु उनका विवेचन नहीं था तो वहां पर 'यथाक्रमं' पद नहीं कहा। इन सब हेतुओंको देखते निश्चित होता है कि आगेके भावनाविषयक सूत्र आचार्यश्रीजीके बनाये हुए नहीं

है, किन्तु दिगंबरियोंने ही घुसेड दिये हैं । यदि भावनाओंके सूत्र दिगम्बरियोंके घुसेडे हुए नहीं होते तो इन सूत्रोंमें हरएक जगह 'पंच पंच' शब्द कहांसे घुस जाता ?, क्योंकि आचार्यश्रीजीनेतो देशविरतिके अतिचारके सूत्रोंमें पांच पांच अतिचार गिनाये हैं, किन्तु किसी भी सूत्रमें 'पंच, पंच' ऐसा नहीं कहा है । जब 'पंच पंच' ऐसा वीप्सा वचन कहकर व्याप्ति दिखा दी तो फिर प्रत्येक स्थानमें सूत्र सूत्र पर 'पंच पंच' कहते रहना यह बात एक मामूली विद्वान्भी उचित नहीं समझता । तो फिर आचार्यश्रीजी जैसे अद्वितीयविद्वान् और संग्रहकारको ऐसा करना कैसे लाजिम हो सकता है ?। इसमें भी सूत्रकारने 'निक्षेप' शब्द समितिके अधिकारमें लियाहै, और इधर 'निक्षेपण' ऐसा गुरुतायुक्त शब्द धर दिया वह संग्रहकारके लिये कैसे लाजिम होगा ? इसी प्रकार 'आलोकितान्नपानानि' ऐसा लघु निर्देश शक्य होने पर भी "आलोकितपानभोजनानि' ऐसा गौरव करना भी लाजिम नहीं था । इसके सिवाय दूसरे महाव्रतकी भावनाओंमें भी 'भय' शब्द रखकर 'क्रोधलोभभयहास्य' ऐसा लघुनिर्देश सुगम और प्रसिध्धिवाला हो सके उसको छोडकर 'क्रोधलोभभीरुत्वहास्य' ऐसा गुरुतायुक्त टेढा निर्देश कौन अकलमंद करेगा?, साथ ही साथ 'प्रत्याख्यानानुवीचीभापणानि' ऐसा लघु निर्देश होने पर भी 'प्रत्याख्यानान्यनुवीची भापणं च' ऐसा गुरुतायुक्त और निरर्थकवाक्य भेदयुक्त कहना संग्रहकारको

कलंकित ही करना है। तीसरे महाव्रतकी भावनामें तो दिगम्बरियोंने कुछ और ही रंग जमाया है। तीसरा महाव्रत अदत्तादानविरमण याने विना दी हुई चीज नहीं लेनेका है, और भावना भी इस व्रतकी वैसीही होना चाहिये कि जिससे उस महाव्रतकी रक्षा हो सके। किन्तु इनलोगोंने तो 'शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच' ऐसा सूत्र कहकर अदत्तादानविरमणकी भावना दिखानेकी वांछा रक्खी है ? परंतु अकलमंद आदमी इस सूत्रको देखकर निःसंदेह कह सकता है कि यह रचना न तो तत्त्वार्थकारमहाराजकी ही है और न अदत्तादानविरमणकी भावनाको दिखानेवाली भी है। इधर गुरुलघुका विषयतो दूर रहा, किन्तु शून्यागारमें रहना यह ब्रह्मचर्यके रक्षण अथवा परिग्रहविरतिके लिये है कि अदत्तादानकी विरतिके लिये है? क्या आगारशून्य होनेपर मालिककी आज्ञा विना ठहरना अदत्तादानसे विरंतिवालेको लाजिम होगा?, यदि यह कहा जाय कि नहीं, तो फिर शून्यागाररूपभावना अदत्तादानविरतिसे बचानेवाली कैसे होगी ?, इसी तरहसे दूसरी 'विमोचितावास' नामकी जो भावना कही गई है वह परिग्रहविरमणकी भावना होगी या अदत्तादानविरमणकी ? और अपना या औरका आवास छोड दे यह अदत्तादानविरमणसे सम्बन्ध रखता है क्या ?

(१८) सप्तम अध्यायमें महाव्रतोंकी स्थिरताके लिये

भगवान् श्रीउमास्वातिजीने 'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच' ऐसा स्पष्ट सूचन करदिया है। बाद इन्हीं दिगम्बरोंने ४, ५, ६, ७ और ८ वें सूत्रोंको कल्पित बनाये हैं। सूरिजीने तो इस भावनाके साथ ही हिंसादिमें अपायावद्यदर्शन, मैत्री आदि, और जगत्के काय और स्वभावका चिन्तन ये सभी इसही स्थैर्यके लिये आगेके सूत्रोंसे दिखाये हैं, तो बीचमें महाव्रतोंकी भावनाका विस्तार अयोग्य ही दिखाई पडता है। जैसे औदयिकके इक्कीस भेद, साकारानाकार उपयोगके अष्ट और चार भेद लोकान्तिकके भेद आश्रवके भेद वगैरह संख्यामात्रसे निर्देश कर अविवृत ही रक्खा है, इसी तरह इधर भेदोंका निर्देश ठीक ही था।

(१९) महाव्रतोंकी भावनाके विस्तारके सूत्रमें भी इन लोगोंने एषणासमितिको अहिंसाकी भावनामेंसे उडा दी है। वास्तविकमें इनलोगोंको शौचके नामसे कमंडल तो रखना है, लेकिन् माधुकरीवृत्तिमें और बाल, ग्लान, वृद्ध, आचार्यकी वैयावृत्यमें जरूरी ऐसा पात्र नहीं मानना हैं। इससेही यह जरूरी हुआ कि उसके स्थानमें उन्होंने अनत्यावश्यक ऐसी वाग्गुप्ति डाल दी हैं। ऐसे ही 'परोपरोधाकारण' नामकी भावनासे दूसरेको उपरोधका कारण नहीं बनना, यह अहिंसाव्रतकीही भावना है, अदत्तादानविरमणसे उसका ताल्लुक किसी भी तरहसे नहीं है। चौथीभावनामें 'भैक्ष्यशुद्धि' रखने-

का दिगम्बरोंने माना है. यद्यपि भैक्ष्यशुद्धि करना जैनमजहब-के हिसाबसे पूर्णतः जरूरी है और इसीसे तो माधुकरीवृत्ति जैनोंने मानी है, परन्तु दिगम्बरोंको पात्रादि न रखनेके कारण एकही गृहमें भोजन कर लेना पडता है. और माधुकरीवृत्तिको जलांजली देनी पडती है. लेकिन भैक्ष्यशुद्धि प्राणातिपात-विरमणके बचावके लिये है. उसको अदत्तादानविरमणसे सम्बंध ही नहीं है. ऐसी निरर्थक बातें श्रीमान्उमास्वातिवाचक-जीने तो नहीं कही हैं, यह तो सिर्फ दिगम्बरोंहीका गप्प-गोला है. आगे पांचवीं भावनामें सधर्माविसंवाद नामक भावना बताई है, लेकिन यह भी सम्यक्त्व या प्रथमव्रतकी भावना है. अदत्तादानविरमणसे इसका कोई सम्बंध नहीं है. असलमें तो इस महाव्रतकी भावना यह थीः—

आलोच्यावग्रहयाञ्चाऽभीक्ष्णावग्रहयाचनम् ।
एतावन्मात्रमित्येतदित्यवग्रहधारणम् ॥ १ ॥
समानधार्मिकेभ्यश्च, तथाऽवग्रहयाचनम् ।
अनुज्ञापितपानान्नाशनमस्तेयभावनाः ॥ २ ॥

अर्थात् जिस मकानमें ठहरनेकी मालिकसे आज्ञा मांगना हो उसीवक्त ही कहां २ क्या २ करना है यह स्पष्ट करके मालिकसे आज्ञा मांगना, बादमें स्थण्डिल प्रश्रवण आदि परठनेके स्थानमें भी मालिकको अप्रीति न हो ऐसा खयाल करनेके लिये फिर भी उस वख्त मालिकका अवग्रह मांगना. फिर भी जहां कहीं साधुको

ठहरना हो वहां भी आपने कितनी जगह मालिकसे ठहरनेके लिये ली है, इसका पूरा निश्चय रखना चाहिये. ऐसा न हो कि आपने जिस स्थानकी याचना नहीं की है उस स्थानका उपभोग होजाय, और अदत्तादानविरमणमें दोष लगे. ये भावना तो मकानके मालिक जो गृहस्थ या क्षेत्र देवता होवे उसकी अपेक्षासे हुई, लेकिन् जिस मकानमें आगे दूसरे साधुमहात्मा ठहरे हैं और उसमें किसी नये साधुको ठहरना है तो उस नये साधुको चाहिये कि पहिले ठहरे हुए साधुमहात्माकी मंजूरी लेवे. इसीका नाम ही साधर्मिकावग्रहकी याचना करना है. ये चार भावनाएंतो मकानके विषयमें अदत्तादान बचानेके लिये हुई, लेकिन् दूसरी तरहसे भी अदत्तादानसे बचानेके लिये ही कहा है कि मालिक और आचार्यने जिस अन्नपानका हुक्म दिया होवे वही उपयोगमें लेना चाहिये. इसीके लिये 'अनुज्ञापितपानान्नाशन' नामकी पांचवीं भावना है.

वाचकगण ! इधर गौर करें कि दिगम्बरोंकी कही हुई 'शून्यागार०' आदि पांच भावनाएं अदत्तादानसे बचावेंगी कि श्वेतांबरोंकी कही हुई 'आलोच्यावग्रहयांचा' आदि पांच भावनाएं अदत्तादानविरमणसे बचावेंगी ?, यदि ये दिगम्बरोंकी कही हुई भावनाएं अदत्तादानविरमणसे सम्बन्धवाली ही नहीं हैं तो फिर ऐसी कल्पितभावनाएं असंबद्धपनसे बनाकर आचार्यमहाराजके नाम पर ठोक देना कितना अन्यायास्पद

होगा ?, असलमें इन दिगम्बरोंको अवग्रहादि मांगना और भिक्षा लाकर आचार्यादिकको दिखाना यह बात पात्रादिक नहीं रखनेके आग्रहसे इष्ट नहीं है. इसी सबबसे इन्होंने इन भावनाओंका गोटाला कर दिया है.

(२१) आगे आठवें अध्यायमें श्वेतांबरलोग 'स बन्धः' यह सूत्र अलग मानते हैं, व दिगम्बरलोग 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' ऐसा कह करके एकही सूत्र मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कहना है कि यदि एकही सूत्र होता तो फिर शब्दसे उद्देश किये बिना तत्शब्दसे निर्देश कैसे होवे? असलमें तत्शब्द पूर्वकालमें कही हुई बातके परामर्शके लिये होता है, और जब यह एकही सूत्र है तो फिर तत्शब्द-की क्या जरूरत थी ?, इतनाही नहीं, लेकिन् एकही सूत्र होता तो 'सकषायजीवेन कर्मपुद्गलादानं बन्धः' ऐसा ही सूत्र करते. इसमें कितना लाघव होजाता है यह बात अकलमन्दोंसे छिपी नहीं है. ऐसा लघुसूत्र नहीं किया इससे साफ जाहिर होता है कि श्रीउमास्वातिवाचकजीने तो इधर दो सूत्र बनाये थे, लेकिन किसी पंडितंमन्यदिगम्बरने इस श्वेताम्बरके सूत्रको अपना करनेके लिए उलट पुलट कर दिया जगतमें भी प्रसिद्ध है कि किसीकी चीजको उडाके ले जानेवाला उस चीजको यथाव-स्थितस्वरूपमें नहीं रखता है. श्रीमान्आचार्यमहाराजकी तो यह शैली है कि पेश्तर पदार्थका स्वरूप दिखाकर पीछे उसके

संकेतके लिये संज्ञा करते हैं. जैसे कि श्रीमान्ने आश्रवका निरूपण करनेवाले छट्ठे अध्यायमें पेश्तर 'मनोवाक्कायकर्म योगः' ऐसा कहकर योगका स्वरूप दिखाया. बादही दूसरे सूत्रमें 'स आश्रवः' कहकर उस योगकी आश्रव संज्ञा की. उसी तरहसे इधर भी श्रीमान् आचार्यमहाराजने पहिले बन्धका स्वरूप या रीति बताकर पीछे उसकी 'स बन्धः' कहकर बन्धसंज्ञा की. पेस्तरके सूत्रमें बन्धका स्वरूप कहनेसे दूसरे सूत्रमें तत्शब्दसे निर्देश करके ही बंधसंज्ञा करनी लाजिम होगा. इससे साफ होता है कि श्वेताम्बरोंका मानना ही यथार्थ है, और असल तत्त्वार्थका सूत्र श्वेताम्बरोंही के पास है. दिगम्बरोंने इस सूत्रको अपना है ऐसा दिखानेके लिए उलटपुलट कर दिया है.

श्वेताम्बरोंका कथन है कि इतना होने पर भी श्रीमान् उमास्वातिवाचकजीका भाग्य बडा तेज होगा कि जिससे इन दिगम्बरोंने गणधरमहाराजके बनाये हुए असली सूत्रोंको नामंजूर करके उडा दिये, इस तरहसे तत्त्वार्थसूत्रमें उलटपुलट किया, लेकिन उडाया नहीं. क्योंकि दिगम्बरोंका यह तो मन्तव्य है ही कि श्रीमान्उमास्वातिमहाराजके वक्त भगवानके आगम हाजिर थे और पीछे सर्वथा नष्ट होगये. जब भगवानके शास्त्रोंको व्युच्छेद कर देनेमें दिगम्बरोंको हर्ज नहीं हुइ, तो फिर उमास्वातिवाचकजीके तत्त्वार्थका व्युच्छेद कह देनेमें इन दिगम्बरोंको क्या हर्ज होती ?. दिगम्बरलोग भगवानके वचनों-

से भी श्रीउमास्वातिका वचन ज्यादह मान्य करते होंगे, अन्यथा दिगम्बरोंके बुझर्गोंने तत्त्वार्थआदिका रक्षण किया और भगवानके वचनका एक टुकडा भी क्यों नहीं रक्खा?,

इस स्थानमें दिगम्बरोंको सोचना चाहिये कि तुम्हारे पूर्वपुरुषोंने जो पुराण आदि बनाये वे भगवानके वचनसे बनाये कि अपनी कल्पनासे बनाये? यदि कहा जाय कि भगवानके वचनको देखकर उसके अनुसारही बनाये, तो फिर उन आचार्यके बनाये हुए तो पुराणादिके लाखों श्लोक अभी तक हाजिर रहे और भगवानका शास्त्र सर्वथा व्युच्छेद ही होगया यह बात कैसे हुई?

दूसरी यह भी बात सोचने काबिल है कि क्या दिगंबरोंके पूर्वपुरुष ऐसे हुए कि पुराणादिक के जो कथानकादिमय हैं उन ग्रन्थोंका तो रक्षण किया और भगवान्‌के अमूल्य वचनरूप सूत्रोंको व्युच्छेद होने दिया? यह बात भी सोचने लायक है कि क्या दिगम्बरोंके पूर्वपुरुष ऐसे हुए होंगे कि पांच सात हजार श्लोक भी याद नहीं रख सके? यदि याद रख सक्ते होते तो भगवानके वचनके लाखों श्लोक न भी रह सके, परन्तु हजारों श्लोक तो जरूर रहते, और ऐसा होता तो दिगम्बरोंको "बदमाश देनदारको बहियां ही नहीं हैं" इस लोकोक्ति अनुसार "भगवानके सूत्र सर्वथा व्युच्छेद होगये, अब भगवानके वचन हैं हीं नहीं" ऐसा कहनेका मौका ही कहांसे आता?

असली मगधदेशकी हकीकत, संज्ञा, वर्त्ताव, संकेत आदिकी विद्यमानता सूत्रोंमें देखकर कोई भी आदमी श्वेताम्बरोंके सूत्रोंको असली सूत्र है ऐसे कहे विना नहीं रह सकता है. गद्यपद्यका या सुगम कठिनताका विषय लेकर जो कुछ अकलमंदको अग्राह्य ऐसा अनुमान कितनेक लोगोंकी तरफसे किया जाय तो वह भी झूठ है, क्योंकि जो आदमी प्रवाहमय संस्कृत भाषामें दिनों तक वाद करता है वही आदमी अपने गृहमें औरत लडकोंआदिके साथ ग्राम्यभाषामें भी बात करता ही है. श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने अति कठिन अनेकान्तजयपताकादि जैसे न्यायग्रंथ बनाये और उन्होंने ही श्रीसमरादित्यकथा जैसा कथानकमय प्रसन्नग्रंथ भी बनाया. और जिन श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिजीने शब्दानुशासन और प्रमाणमीमांसा सरीखे व्याकरण और न्यायके प्रौढग्रंथ बनाये उन्होंने ही त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र और परिशिष्टपर्व सरीखे कथानकमय सरल ग्रंथ भी बनाये. जिन सोमप्रभाचार्यजीने हरएक काव्यके सौ अर्थ बनें ऐसा काव्य रचा. उन्हीं सोमप्रभाचार्यजीनें सिन्दूरप्रकरण जैसा प्रसन्नकाव्य बनाया, इसी तरह सूत्रकी पूर्वापर भाषादिमें भी होना असंभवित नहीं है, तो फिर श्वेताम्बरोंके असली सूत्रको दिगम्बर नहीं मानते उसमें उनका हठकदाग्रहके अतिरिक्त दूसरा कोई भी सबब नहीं मालुम होता है.

(२१) आठवें अध्यायके अन्तमें श्वेताम्बरलोगोंने

'सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं' ऐसा सूत्र माना है, तब दिगम्बरोंने "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं" ऐसा सूत्र माना है. बादमें दिगम्बरोंने 'अतोऽन्यत् पापं' ऐसा आखिरका सूत्र माना है याने श्वेताम्बरोंने अकेले पुण्यकी प्रकृतियोंको दिखानेवाला सूत्र स्पष्ट माना है और पापप्रकृतिको अर्थापत्तिसे गम्य मानी है, जब दिगम्बरोंने दोनों तरहकी प्रकृतिको दिखानेवाले सूत्र अलग अलग माने हैं. असलमें श्वेताम्बरोंको यह सोचना चाहिये कि सम्यक्त्व हास्य रति और पुरुषवेद यें सब प्रकृतियां मोहके भेद हैं, तो मोहका भेदरूप होनेवाली प्रकृतियां पुण्यरूप कैसे हो सकती हैं ? लेकिन् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंको यह तो मंजूर ही है कि असलमें आत्माको बन्ध तो मिथ्यात्वमोहनीयका ही होता है. बादमें जब आत्मा शुद्धपरिणाममें आकर उन मिथ्यात्वके पुद्गलोंको शुद्ध कर डाले तभी उनपुद्गलोंको सम्यक्त्वमोहनीयके पुद्गल कह सकते हैं, और उन्हीं सम्यक्त्वके पुद्गलोंको वेदता हुआ जीव सम्यक्त्ववान् है और रहता है सम्यग्ज्ञानादिकको भी पाता है, तो फिर ऐसे पुद्गलोंका पुण्यरूप नहीं मानना यह कैसे होगा ? असलमें तो जैनशास्त्रके हिसाबसे सभी कर्मपुद्गल पापरूप ही हैं. लेकिन् जिसके उदयमें आत्मा आनन्द पावे वैसे पुद्गलको पुण्य मानते हैं और जिन पुद्गलको वेदते आत्मा तकलीफ भोगता है उसको पाप मानते हैं. यदि

यह बात दोनोंको मंजूर है तो उस अपेक्षासे सम्यक्त्वपुद्गलका वेदन करना पुण्य क्यों नहीं होगा ? सम्यक्त्व पानेसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है ऐसा तो दोनोंको ही मंजूर है. अब आगे हास्य रति पुरुषवेद कहे हैं, ये भी आल्हादसे जब अनुभूत होते हैं तो फिर वह पुण्यतरीके क्यों न माना जाय ? इतनाही नहीं, लेकिन दोनोंको यह भी मंजूर है कि हास्य रति और पुरुषवेदका कर्म अच्छा कार्य करनेसे ही बंधता है, बुरे कार्यकी प्रवृत्तियोंमें तो शोक: अरति और स्त्रीवेदका ही बंध होता है, तो फिर शुभयोगसे होनेवाला आश्रव 'शुभः पुण्यस्य' ऐसा जो सूत्र पूर्वमें कहा है उस मुजब क्यों शुभ नहीं गिनना ? और आश्रवके वक्त पुण्य गिने तो फिर उदयके वक्त उन प्रकृतियोंको पुण्य नहीं कहना और पाप कहना यह कैसे होगा ? विशेष आश्चर्यकी बात तो यह है कि दिगम्बरलोग स्त्रीको महापापका उदय मानकर स्त्रीको केवलज्ञान और मोक्ष नहीं होता है ऐसा मानते हैं. तो इधर तो उनके हिसाबसे स्त्रीवेदका उदय भी जैसा पापरूप है वैसाही पुरुषवेदका उदय भी पापरूपही है. तो फिर स्त्रीको पुरुषकी तरह केवलज्ञान और मोक्ष क्यों नहीं मानते हैं ? यह तो एक सामान्यरूपसे विचारणा कही है. असलमें तो आगे छठे अध्यायमें दोनोंने शुभ योग होवे वह पुण्यका और अशुभयोग होवे सो पापका आश्रव होवे ऐसा मंजूर कर लिया है, तो फिर इधर पुण्यकी

प्रकृति गिनाकर पापकी प्रकृति अपने आप समझमें आनेवाली होनेसे कहनेकी जरूरत ही नहीं थी. इतना होने पर भी सूत्रको समझनेवाला आदमी स्पष्ट जान सकता है कि यह सूत्र श्रीमान्‌उमास्वातिवाचकजीका वा किसी भी अकलमंदका बनाया हुआ नहीं है अकलमंद नया बनानेवाला होता तब भी ऐसा सूत्र नहीं बनाता. क्योंकि 'अन्यत् पापं' इतनाही कहना जरूरी था, क्योंकि पेश्तरके सूत्रमें पुण्यप्रकृति स्पष्टतः दिखाई है. तो फिर 'अतो' इस पदकी जरूरतही क्या थी ? अपने आप 'अन्यत्' शब्द कहनेसे ही उससे याने पुण्यप्रकृतिसे भिन्न प्रकृतियोंको पाप कहना यह आ जाता. जैसे दिगम्बरोंके हिसाबसे 'शेषास्त्रिवेदाः' इस सूत्रमें 'इतः' वा 'अतः' कहनेकी जरूरत नहीं रही और श्वेताम्बरके हिसाबसे 'शुभः पुण्यस्य' सूत्रके बाद कितनेक स्थानके हिसाबसे 'शेषं पापं' इसमें 'इतः' वा 'अतः' की जरूरत नहीं है, और दोनोंके मन्तव्यसे 'प्रत्यक्षमन्यत्' ऐसा-जो सूत्र है उसमें 'अतः' वा 'इतः' कुछ भी नहीं है, और इसी तरहसे दूसरे भी दर्शनकारोंने शेषकी जगह पर 'अतः' वा 'इतः' नहीं लगाया है, सबब मालूम होता है कि यह सूत्र दिगम्बरोंने कल्पित बनाकर घुसेड दिया है.

(२२) दिगम्बरोंने अध्याय छट्ठेमें सूत्र ऐसा माना है कि 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' याने शुभयोग पुण्यका आश्रव है और अशुभयोग पापका आश्रव है श्वेताम्बर लोग इस

जगह पर 'शुभः पुण्यस्य' और 'अशुभः पापस्य' ऐसा करके दोनों सूत्र अलग अलग मानते हैं; अब इस स्थानमें श्वेताम्बरों-का कहना है कि यदि ये सूत्र दोनों अलग नहीं होते तो प्रथम तो इधर समुच्चय करनेवाला शब्द चाहिये था. इतना ही नहीं, लेकिन ऐसा सूत्र पुण्यापुण्यका एकत्र करना होता तबतो 'शुभाशुभौ पुण्यपापयोः' यही कहना लाजिम था. सूत्रकार जहां कहीं समुच्चय करते हैं वहां पर ०चतुर्स्त्वेश्च १-९ 'औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च' (२-१) 'औदयिकपारिणामिकौ च' (२-१) 'सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च' (२-५) 'विग्रह-वती च०' (२-२८) 'मिश्राश्चैकशः०' (२ ३२) '०मव्याघाति चाहारकं' (२-४९) 'तारकाश्च' (४-१२) 'सर्वार्थसिद्धौ च' (४-१९, ४-३२) 'परत्वापरत्वे च०' (५-२२) 'अणवः स्कन्धाश्च' (५-२५) 'पारिणामिकौ च' (५ ३७) '०विसं-वादनं च० (६-२२) '०द्भावने च०' (६-२५) 'चोत्तरस्य' (६-२६) 'स्त्यानगृद्धयश्च' (७-७) 'विकल्पाश्चैकशः' (७-९) 'तीर्थंकरत्वं च' (७-१९) '०मन्तरायस्य च' (७-१४) 'क्षयाच्च केवलं' (१०-१) 'परिणामाच्च' (१०-६) '०शिखा-वच्च' (१०-७) ये सूत्र स्पष्ट तरहसे उदाहरण हैं के समुच्चय दिखानेके लिये चशब्द लगाया जाता है.

इन सभी सूत्रोंमें मुख्यत्वे सिर्फ उन्हीं सूत्रोंमें कहा हुआ समुच्चय है और उस समुच्चयको दिखलानेके लिये सूत्रकारने स्पष्ट

समुच्चयवाचक ऐसे 'च' का प्रयोग कियाहै. और ये चकारवाले सभीसूत्र प्रायः दिगम्बरोंको मंजूर भी हैं, जब आचार्यमहाराजकी दिगम्बरोंके हिसाबसे ही ऊपर दिये हुए सूत्रोंसे शैली सिद्ध होती है तो फिर इधर समुच्चायक ऐसे 'च' शब्दका प्रयोग न करें और दोनों एकत्र रक्खें यह कैसे बने ? इससे निर्णीत होता है कि हमारे माने अनुसार पुण्य और पापके लिए श्रीमान्‌उमास्वातिवाचकजीने सूत्र अलग अलग ही किये थे और इन दिगम्बरोंनें घोटाला कर दिया है।

(२३) नवमें अध्यायमें ध्यानके लक्षणके सूत्रमें दिगंबर-लोग 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमामुहूर्त्तात्' ऐसा अखंड मानते हैं. जब श्वेताम्बर लोग 'उत्तम०' इत्यादिकको एक सूत्र मानके 'आमुहूर्त्तात्' यह सूत्र अलग लेते हैं, अब इस स्थानमें या तो दिगम्बरोंनें दो सूत्रोंका एक सूत्र बना दिया है या श्वेताम्बरोंनें एकसूत्रके दो सूत्र कर दिये हैं, यह सोचनेका है. असलमें इसमें एक सूत्र हो या दो सूत्र हों इससे भावार्थका फर्क नहीं है. तथापि एकका दो करना या दो सूत्रका एक सूत्र कर देना यह भवभय रहितपनका तो जरूर सूचक है. इधर अपने उस बातसे मतलब नहीं है, लेकिन सूत्र दो थे और एक हुआ या एकही था उसके दो कर दिये. यद्यपि इस बातका निर्णय करना मुश्किल है, तथापि अशक्य तो नहीं हैं. क्योंकि सूत्रकार महाराजने अनेक स्थानों पर अनेक पदार्थों

की स्थिति दिखाई है. जैसे तीसरे अध्यायमें नारकोंकी स्थिति दिखाई है, वैसेही मनुष्य और तिर्यंचकी भी स्थिति दिखाई है, ऐसे ही ज्ञानावरणीयादिकर्मोंकी भी स्थिति आगे दिखाई है. लेकिन किसी भी स्थानमें स्वरूप या भेद दिखानेके साथ स्थिति नहीं दिखाई है, तो इधर सूत्रकार अपनी शैली पलटावे इसका कोई भी विशेष सबब न होकर यही मानना वास्तविक होगा कि श्रीमान्‌उमास्वातिजीमहाराजने स्वरूपदर्शक और स्थिति-दर्शक सूत्र अलग ही किये थे, और किसी पंडितंमन्य दिगम्बर-ने अपनी कल्पना चलाकर इकट्ठा करके एकही सूत्र कर दिया है।

(२४) इसी नवमें अध्यायमें दिगम्बरोंने 'आज्ञापाय-विपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यं' 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' और 'परे केवलिनः' ऐसे तीन सूत्र माने हैं. और श्वेताम्बरोंने 'आज्ञा-पायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्ममप्रमत्तसंयतस्य' 'उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च' 'शुक्ले चाद्ये' 'पूर्वविदः' 'परे केवलिनः' इस तरहसे पांच सूत्र माने हैं. अब इधर यही सोचनेका है कि क्या श्वेताम्बरोंने सूत्र बढा दिये हैं या दिगम्बरोंने कम कर दिये हैं ? असलमें तो इसका खुलासा सूत्रकार महाराज ही कर सकते हैं कि अमुकने मेरी कृतिमेंसे सूत्र कम कर दिये हैं या अमुकने मेरी कृतिमें सूत्र बढाये हैं. लेकिन अक्लमंद आदमी अपनी अक्लसे भी इसका कुछ निश्चय कर सकता है. अव्वल

तो यह बात दोनोंने दिखाई है कि आर्त्तध्यान नामक ध्यान अविरत देशविरत और प्रमत्तसंयतको होता है और रौद्रध्यान-नामक ध्यान देशविरत और अविरतको होता है. और यह बात दोनोंही फिरकेवाले अपने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें दर्ज करते हैं, तो फिर धर्मध्यान किस गुणस्थानवालेको होता है इसका निर्देश क्यों नहीं करना ? सबब साफ होजाता है कि असलमें धर्म-ध्यानके विषयमें अप्रमत्तसंयतका निर्देश सूत्रकारने किया था, जिसको दिगम्बरोंने उडा दिया है.

यह बात तो धर्मध्यानके लक्षणवाले सूत्रके विभागके विषयमें हुई, आगेके लिये यह सोचनेका है कि अविरतआदि-कों तो ध्यान दिखायें, लेकिन उससे आगे बढे हुए उपशान्त-कषाय, क्षीणकषायको कौन ध्यान होवे ? उसका तो जिक्र इधर है नहीं इसी सबबसे मानना होगा कि सूत्रकारने 'उप-शान्तक्षीणकषाययोश्च' यह सूत्र जरूर बनाया है. एक बात और भी गौर करनेके काबिल है कि वाचकजीमहाराजने आर्त्तरौद्रके स्वामी दिखानेके वक्त अविरतादिको दिखाके गुणस्थान-के हिसाबसे स्वामी दिखाया तो फिर अप्रमत्त मात्रको धर्मध्यानके अधिकारी दिखावे और शेषउपशान्तादिकको न दिखावे यह कैसे हो ?

सूत्रकारने यह सूत्र इधर जरूर बनाया है इसका एक और भी पूर्णतः सबूत है. वह यह है कि यदि इधर यह 'उपशान्त-

क्षीणकषाययोश्च' सूत्र नहीं होता तो 'शुक्ले चाद्ये०' इस सूत्रमें चकार धरनेकी क्या जरूरत थी? इतनाही नहीं, लेकिन हरएक ध्यानके अधिकारमें पेश्तर उसका भेद दिखाकर बादही उस ध्यानके मालिक दिखाये जाते हैं. जैसा खुद इधरही आर्त्त-ध्यान, रौद्रध्यानमें भेद दिखाकर बादमें ध्याता दिखाया. ऐसा दोनों फिरकेका सूत्रपाठ कह रहा है, तो फिर इधर शुक्ल-ध्यानके भेदोंको दिखाये बिना ही कौन कौन किस किस भेदके ध्यानेवाले हैं यह दिखानेकी क्या जरूरत थी? इससे विवश होकर मानना पडेगा कि धर्मध्यानको ध्यानेवाली कोई व्यक्ति-का इधर पेश्तरके सूत्रमें निर्देश था. और वे व्यक्तियां दूसरे ध्यानको भी ध्यानेवाली है, वे दूसरी कोई नहीं, किन्तु उप-शान्तमोह और क्षीणमोह ये दोनों हैं. याने मतलब यह हुआ कि कितनेक उपशान्तक्षीणमोहवाले धर्मध्यानवाले होते हैं और कितनेक शुक्लध्यानवाले भी होते हैं. और इसी बातको दिखानेके लिये 'शुक्ले चाद्ये' इस सूत्रमें सूत्रकारने समुच्चय-वाचक 'च' का प्रयोग किया है. इधर चकारका प्रयोग तो दोनों भी मंजूर करते हैं. कभी दिगम्बरोंकी तरफसे ऐसा कहा जाय कि इधर समुच्चयवाचक चकार है लेकिन इससे उपशान्त-क्षीणमोहका समुच्चय नहीं करना है, किन्तु पेश्तर कहा हुआ धर्मध्यान और आगे दिखाएंगे ऐसे शुक्लध्यानके भेदद्वय ये सब पूर्वके जानकारको होते हैं. इस अर्थको दिखानेके लिए

चकारका प्रयोग है. ऐसा अर्थ करनेसे न तो चकार बेकाम होगा और न भेद कहनेके पेश्तर ध्याता दिखाया उसकी हर्ज होगा. इस तरहसे दिगम्बरोंका कथन होवे तो यह कथन साफ गलत है. सबब कि उन्होंके कथनानुसार अर्थ करें तो अप्रमत्त-से लगाकर क्षीणमोह तकके जीवोंको कौन ध्यान होगा? इसका तो खुलासा रह गया। यह बात तो दिगम्बरोंको भी मंजूर ही है कि सब कोई अप्रमत्तसे लगाकर उपशान्तक्षीणमोहवाले जीव पूर्वसम्बन्धी श्रुतका ज्ञान पानेवाले होते हैं, ऐसा नियम नहीं है. इतनाही नहीं, लेकिन दिगम्बरलोग वर्त्तमानकालमें भगवानका कहा हुआ कोई भी सूत्र नहीं है ऐसा मानते हैं, तो क्या सूत्रव्युच्छेद माना तबसे लगाकर लगातार पांचवें आरे-की समाप्ति तकके त्यागी मुनियोंको भी ये दिगम्बर लोग आर्त्तरौद्रध्यानवाले मानेंगे? मेरा खयाल है कि ये लोग कभी यह बात मंजूर नहीं करेंगे, तब जबरन मानना होगा कि दिगं-बरोंने 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' यह सूत्र उडा दिया है. अब यह सोचनेका है कि 'शुक्ले चाद्ये' और 'पूर्वविदः' ये दोनों अलग अलग सूत्र होंगे कि एक ही सूत्र होगा? इस विषयमें असल निर्णय तो सूत्रकार महाराज ही कह सक्ते हैं, यह बात है, लेकिन असल हकीकतको सोचनेसे अपने भी निर्णय कर सकते हैं. अव्वल तो यह सोचना चाहिये कि दो सूत्र अलग करनेसे क्या अर्थ होता है? और इकट्ठा करनेसे क्या अर्थ

होता है ? सोचनेसे मालूम हो जायगा कि यदि इधर एक ही सूत्र रखा जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि उपशान्तमोह और क्षीणमोहको धर्मध्यान होता है और यदि वे उपशान्तमोह और क्षीणमोह पूर्वश्रुतको धारण करनेवाले होवें तो उन्होंको शुक्लध्यानके आदिके दो ध्यान होते हैं, याने उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय जीव भी पूर्वके श्रुतके धारण करनेवाले न हों तो उनको न शुक्लध्यान होवे. इधर यह बात तो दोनों फिरकेवालोंको मान्य ही है कि शुक्लध्यानके पेश्तर दो भेदका ध्यान होने बादही केवलज्ञान होता है. याने ध्यानान्तरिकामें ही केवलज्ञान होना दोनों मंजूर करते हैं. यह भी बात दोनों मंजूर ही करते हैं कि सामान्यसे अष्टप्रवचनमाताको जाननेवाले त्यागी भी केवलज्ञानको पा सक्ते हैं. अब इन बातोंको समझनेवाले फौरन निश्चय कर सकेंगे कि ये सूत्र अलग ही होने चाहिये. याने दोनों सूत्र अलग करनेसे ऐसा अर्थ होगा कि उपशान्तमोह और क्षीणमोहको धर्मध्यान भी होता है और अन्तिमभागमें शुक्लध्यानके भी आदिके दो भेद होते हैं, और यदि पूर्वश्रुतके धारण करनेवाले और भी याने उपशान्तमोह और क्षीणमोहके सिवायके अप्रमत्तसंयतादि होवें उनको भी शुक्लध्यानके आदिके दो भेद हो सकते हैं. अब इस तरहसे अर्थ होनेमें किसी भी तरहका मन्तव्य का विरोध न होगा. इस सबबसे मानना चाहिये कि इन दोनों सूत्रोंको श्रीमान्उमा-

स्वातिवाचकजीने अलगही बनाये हैं, और जब ऐसा निश्चय होगा तो जरूर मानना होगा कि—दिगम्बरोंनें ही घोटाला करके इन दोनों सूत्रोंको इकट्ठा करके एकही सूत्र बना दिया है. भाग्य है जगज्जीवोंका कि इन दिगम्बरोंनें भगवानके भाषित सूत्र मंजूर नहीं रखे हैं. अन्यथा एक दोसौ श्लोकके तत्त्वार्थसूत्रमें इतना घोटाला दिगम्बरोंनें कर दिया है तो फिर वे लोग सूत्रको मंजूर करते तब तो बडे बडे सूत्रोंमें क्या क्या घोटाला नहीं कर देते ?

(२५) दशवें अध्यायमें श्वेताम्बरलोग 'मोहक्षयाज् ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलं' 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां' और 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः' इस तरहसे तीन सूत्र मानते हैं. तब दिगम्बरलोग 'मोहक्षयाज् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं' 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इस तरहसे दो सूत्र मानते हैं. अब वास्तवमें इधर तीन सूत्र हैं कि दो सूत्र हैं इसका निर्णय करना जरूरी है. यद्यपि इधर दो सूत्र माने या तीन सूत्र माने, लेकिन एक भी बातका इन दोनों फिरकोंमें फर्क नहीं है. जितनी बाबत श्वेताम्बर मानते हैं उतनी ही दिगम्बर मानते हैं, लेकिन श्वेताम्बरोंके हिसाबसे यह रिवाज है कि सूत्रभेद करे, या सूत्र और अक्षर भेद नहीं करते भी अर्थका भेद करें तो प्रायश्चित्तापत्ति कम नहीं है. अस्तु. लेकिन इधर भेद किसकी तरफसे हुआ ? तीन सूत्र

करनेवालेकी तरफसे यह भेद हुआ है कि दो सूत्र करनेवाले दिगम्बरोंकी तरफसे यह भेद हुआ है।, दिगम्बरोंके हिसाबसे सोचें तब तो समग्र कर्मका विनाश होवे उसीमें बन्धहेतुका अभाव और निर्जरा ये दोनों कारण होते हैं. याने मोह ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतरायके क्षयके कारणमें बन्धहेतुका अभाव और निर्जरा समाविष्ट नहीं किये हैं. क्योंकि दिगम्बरोंने 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां' इस वाक्यको न तो स्वतन्त्र सूत्रके रूपमें रखा है और न 'मोहक्षयात्०' इत्यादिसूत्रमें लगाया है. याने समग्रकर्मके क्षयरूप मोक्षको प्रतिपादन करनेवाले सूत्रमें मिला दिया है. यदि ऐसी शंका होगी कि जैसे दिगंबरोंके हिसाबसे बंधहेतुके अभावादि कारण मोक्षके साथ लगेंगे और मोहक्षयादिके साथ नहीं लगेंगे, वैसेही श्वेताम्बरोंके हिसाबसे भी बन्धहेतुके अभावादि कारण केवल मोहक्षयादिके साथ ही लगेंगे, लेकिन मोक्षके साथ नहीं लगेंगे. परन्तु यह शंका करना लाजिम नहीं है. कारण कि असलमें तो दोनों ही फिरकेवाले यह मंजूर करते ही हैं कि संसारकी असली जड चारघातिकर्म और उसमें भी असल में मोहनीयकर्म ही है, और मोहनीयादिकके क्षयमें बन्धहेतुका अभाव और निर्जरा-रूप कारण दिखानेकी जरूरत है. दूसरी बात यह भी है कि किसी भी कर्मकी स्थिति बांधना होवे तो उसमें मोहनीयकी ही जरूरत है, और मोहनीयका अभाव होजानेसे किसी भी

कर्मका स्थितिबन्ध होता ही नहीं है. इससे मोहादिकका क्षय होने बाद वेदनीयादि अघातिके क्षयमें कुछ वैसे हेतुकी जरूरत नहीं रहेगी. इतना होने पर भी श्वेताम्बरोंकी मान्यताके अनुसार तो मोहादिक्षयमें और कृत्स्नकर्मके क्षयमें दोनोंमें भी बन्धहेतुका अभाव और निर्जरा यह हेतु हो सकेगा. सबब कि 'बन्धहेत्वभाव०' यह अलग सूत्र बीचमें रक्खा है. और अलग बीचमें सूत्र होनेसे देहली दीपक आदि न्यायसे दोनों ओर लगेगा याने मोहादिक्षयसे केवलज्ञान होता है, लेकिन मोहादिका क्षय तो बन्धके हेतुओंका अभाव होनेसे और निर्जरा होनेसे ही होता है, यह भी अर्थ होगा.

दोनों फिरकेवालोंको यह बात तो मंजुर ही है कि केवलज्ञान पानेवालेको दशवें गुणठाणेसे पेश्तर ही मोहका बन्ध नाश पाता है और दशवें गुणठाणमें सत्तामें रहा हुआ भी मोहनीयकर्म नाश पा जाता है, इसी तरहसे दशमें गुणस्थानकी आखिर होते ज्ञानावरणादिके बन्धकी दशाका भी अंत होता है, और बारहवें गुणस्थानमें शेष सत्तामें रहे हुए ज्ञानावरणादिघातिकर्मकी सत्ता भी निर्मूल होती है. इससे मोहादिक्षयमें ही यह लगाना लाजिम है. समग्रकर्मक्षयरूप मोक्षके लिये तो केवलज्ञान होने बाद सातवेदनीयसे शेष अघाति या घातिकर्मके बन्धका कोई सबबही नहीं है, और वेदनीय आयु नाम और गोत्रकी निर्जरा हुई है. लेकिन इससे घाति अघाति दोनोंके साथ बन्ध-

हेतुका अभाव और निर्जरारूप हेतुको लगा सकेंगे लेकिन कैवल्य-होनेमें जितने प्रतिबन्धक हैं उन सबका बन्धहेतुका अभाव और उन कर्मोंका निर्जरण केवलज्ञानके पूर्व अनन्तर कालमें रहता है, समग्रकर्मका अभावरूप मोक्ष होनेमें समग्रकर्मके बन्धहेतुका अभाव तो और और गुणस्थानके कालमें है और समग्रकर्मका निर्जरण भी और और गुणस्थानकोंमें है याने मोक्ष होनेके अनन्तर पश्चात्कालमें न तो समग्रकर्मके बन्धहेतु थे, और न समग्रकर्मोंकी निर्जरा भी अनन्तर पश्चात्कालमें होती है. इसीसे श्वेताम्बर लोग इस 'बन्धहेत्वभाव०' सूत्रको दोनोंमें याने केवल-ज्ञानके कारण मोहादिकके क्षयमें और सकलकर्म मोक्षमें लग सकने पर भी लगाते नहीं हैं सिर्फ पेश्तर सूत्रमें कहे हुए केवल-ज्ञान के कारणरूप मोहादिकके क्षयमें ही हेतुपनसे लगाते हैं. और यही युक्तियुक्त होनेसे मोक्षके सूत्रमें उसको शामिल करना यह दिगम्बरोंका भवभयनिरपेक्षतासे भरा हुआ अन्याय है।

(२६) दशवें अध्यायमें मोक्षके लक्षणके बाद दिगम्बरों-ने सूत्र ऐसे माने हैं कि 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' याने इन दोनों भागके दो सूत्र माने हैं. श्वेताम्बरोंने इस स्थानमें 'औपशमि-कादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' ऐसा एक ही सूत्र माना है. इस स्थानमें भी यही सोचनेका है कि दिगम्बरोंनें असलके एकसूत्रके दो सूत्र किये या

श्वेताम्बरोंने दो सूत्र अलग अलग थे उनको मिलाकर एक कर दिया ?, अक्कलमंद आदमी समझ सकता है कि इधर असल अलग अलग सूत्र होगा ही नहीं. और यह सोचना जरूरी है कि सूत्रकार 'अन्यत्र' शब्द करके जो अपवाद बताते हैं वह एकसूत्र होता है तभी होता है. अलग २ सूत्र होते तब तो एक नकारसे ही अपवाद दिखा सकते थे. सूत्रकारकी शैली-भी यही है. देखिये (३ ३७) 'भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयो-ऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' इस तीसरे अध्यायके सूत्रमें भरतादिक-क्षेत्रोंका कर्मभूमिपनका विधान करते देवकुरुआदिभी महाविदेहांतर्गत होनेसे कर्मभूमि हो जाते थे, इससे इधर 'अन्यत्र' ऐसा कहकर देवकुरुआदिको वर्जित किया है. इसी तरहसे इधर भी साफ समझनेका है, याने औपशमिकादिक-भावोंका सर्वथा अभाव कह देनेमें केवलसम्यक्त्वज्ञानादिकका अभाव भी होजाता था इससे सूत्रकारमहाराजने 'अन्यत्र केवल०' इत्यादि कहकर उन सम्यक्त्वादिकका जो अभाव होता था वह रोक दिया. यह रिवाज इधर तत्त्वार्थकार महाराज-ने ही रक्खा है, ऐसा नहीं है, किन्तु वैयाकरणाचार्योंने भी यही रिवाज रखा है. और इसीसे ही उन वैयाकरणाचार्योंने 'संप्रदाना-च्चान्यत्रोणादयः' इत्यादि सूत्र इकट्ठे ही किये हैं, याने इन दोनों भागोंको अलग अलग करके दो सूत्र बनाना यह उचित ही नहीं है. कितनेक तो इतना तक कहनेवाले मिलेंगे कि जब

पेश्तरके सूत्रसे औपशमिकादिक सर्वभावका निषेध होगया तो पीछे दूसरे सूत्रमें 'अन्यत्र' आदि कहनेसे क्या होगा? याने देवदत्तका मरण होजाने बाद उसके मारनेवालेको मार दें तो क्या देवदत्त जिन्दा हो जायगा? देवदत्तके जिन्दा रहते ही मारनेवाला मारा जाय तो देवदत्त बच सक्ता है. इसी तरहसे इधर भी आद्यसूत्रसे औपशमिकादिकभावोंका निषेध कर दिया तो फिर दूसरे 'अन्यत्र०' इस सूत्रसे क्या होगा? याने न तो ऐसे स्थानमें दो सूत्र करनेका इन आचार्यभगवानका नियम है, और अन्यआचार्य भी ऐसे अलग सूत्र नहीं करते हैं. और निषेध करके फिर दूसरे सूत्रसे अन्यत्र कहकर रुकनेकी योग्यता भी नहीं है. इससे इधर दो सूत्र अलग करना लाजिम ही नहीं था अब ये सूत्र अलग करने योग्य नहीं थे इतनाही नहीं, लेकिन अलग करनेमें दिगम्बरोंको कितना हरज होता है वह देखिये. दिगम्बरोंने 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' ऐसा सूत्र बनाया है इस सूत्रमें षष्ठीका अन्वय कहां करना उसका पता ही नहीं है. यदि कहा जाय कि इसके पेश्तरके 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इस सूत्रमें विप्रमोक्ष शब्द है उसकी अनुवृत्ति करेंगे और उससे यह अर्थ होगा कि औपशमिकादिक भावोंका भी विप्रमोक्ष होजाना उसका नाम मोक्ष है. लेकिन यह कहना नियमसे विरुद्ध है, क्योंकि विप्रमोक्ष शब्द जो है वह कृत्स्नकर्मके साथ समाससे लगा हुआ है, और

समस्तपदकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती है. क्योंकि 'सांनियोग-शिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः' याने एकपदसे कहे हुए पदार्थकी साथही प्रवृत्ति होती है. और साथही निवृत्ति होती है, तो इधर अकेले विप्रमोक्षपदका अनुवर्त्तन कैसे होगा ? एक बात और भी सोचनेकी है कि कर्मका नाश करनेके लिये प्रयत्न किया गया था और उससे सकलकर्मका विप्रमोक्ष हुआ, इस तरहसे क्या औपशमिकादिकभावोंके नाशके लिये प्रयत्न करनेका है ?, कहना होगा कि औपशमिकादिक जो भाव हैं वह कर्मोंकी तरह हेय और प्रयत्न करके क्षय करने योग्य नहीं है. तो फिर इधर विप्रमोक्षशब्दकी अनुवृत्ति कैसे होगी ?

दूसरा यह भी है कि जब भव्यशब्दके आगे स्वरूपकों सूचित करनेवाला त्वप्रत्यय तुमने लगाया तो फिर बहुवचन कैसे लगाया ? याने 'भव्यत्व' ही कहना लाजिम था. साथमें यह भी सोचनेका है कि औपशमिकादिभावोंका सर्वथा विच्छेद लेना होवे तभी 'अन्यत्र०' कहकर अपवादकी जरूरत है. कितनेक भावोंका व्युच्छेद कहना होवे तो 'अन्यत्र०' करके अपवाद दिखानेकी जरूरत ही नहीं है याने मतलब यह है कि जब तक संसारसमुद्रसे पार न पाये और मोक्ष न हुआ तब तक औपशमिकादिक पांच भाव जो दूसरे अध्यायमें कहे हैं उन्होंका यथायोग्यतासे सद्भाव होता है. लेकिन मोक्ष होनेके वक्त उन पांचोंमेंसे सिर्फ केवलसम्यक्त्वादिक ही भाव रह

कर और भाव सब निवृत्त होजाते हैं. इस बातको समझनेवाले मनुष्य अच्छीतरहसे समझ सकेंगे कि श्वेताम्बरोंने जो 'औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र०' इत्यादि एक ही सूत्र रखा है यही लाजिम है, और श्रीउमास्वातिमहाराजका किया हुआ भी ऐसा ही सूत्र होना चाहिये. इस सूत्रमें पंचमी विभक्तिका निर्देश है और वही युक्त है. सबब कि औपशमिकादिभव्यत्वके अभावसे मोक्ष होता है, तो उसको हेतु मानना और उससे मोक्ष होना योग्य होगा. लेकिन यदि 'भव्यत्वानां च' ऐसा करके षष्ठीविभक्ति माने और उनके विप्रमोक्षको मोक्ष मानें तो औपशमिकादिकभाव मोक्षके समकालीन बन जायगा और यह तो किसी भी तरहसे इष्ट नहीं होगा. इस स्थानमें शंका जरूर होगी कि औपशमिकादिके और भव्यत्वके अभावकी क्या जरूरत है ?, क्योंकि ज्ञानावरणादिक तो ज्ञानआदिको रोकनेवाले होनेसे उनका अभाव होना जरूरी है. लेकिन औपशमिकादिक और भव्यत्व किसको रोकनेवाले हैं कि जिससे उनका अभाव मोक्षका साधन माना जाय?, इसके समाधानमें समझनेका यह है कि औपशमिकादिभाव कर्मके उपशमक्षयोपशमादिसे होते हैं, और मोक्ष होनेके वक्त तो जीव सर्वथा प्रतिबंधकसे मुक्त हैं. इससे मुक्तजीवोंको तो क्षायिक ही भाव होता है. और उनमें भी दानादिककी जो कि कर्मोंके क्षयसे भी होने वाले हैं उनकी भी प्रवृत्ति नहीं होती है.

इससे केवलसम्यक्त्वादिकके सिवाय सब औपशमिकादिकका अभाव होना यह मोक्षका सबब दिखाया. इधर भव्यत्वका अभाव दिखाया उसका सबब यह है कि भव्यत्व जो है वह कारणदशा याने मोक्षपानेकी योग्यताका नाम है, और मोक्षरूप कार्य जब होगया तो अब कारणदशा न रही इससे उस भव्यत्वकाभाव कहना ही होगा जगत्में भी वृक्ष या स्कन्धके वक्त अंकुरदशा नहीं रहती है. उसी तरहसे इधर भी मोक्षके वक्त भव्यत्व न रहे यह स्वाभाविक है. और इसीसे ही इधर भव्यत्वपनका अभाव भी मोक्षका हेतु माना है. जीवपणरूप पारिणामिकभाव ठहरनेका होनेसे भव्यत्वका अभाव स्पष्टशब्दसे दिखाया, यह तो स्वाभाविक ही है।

(२७) दशवें अध्यायमें ही 'पूर्वप्रयोगादसंगत्वा०' इत्यादि सूत्रके आगे दिगम्बरोंने 'आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' ऐसा सूत्र माना है. श्वेताम्बर लोग इस सूत्रको मंजूर नहीं करते हैं. श्वेताम्बरोंका कथन ऐसा है कि आचार्यमहाराज सरीखे संग्रहकार अपने बनाये हुए सूत्रमें दृष्टान्तका सूत्र बनावें यह असंभवित ही है. यदि दृष्टान्त देना और दृष्टान्तसे पदार्थकी सिद्धि करनी इष्ट होती तो पेश्तर प्रमाणके अधिकारमें हेतुदृष्टान्तादि कहते, उपमान और आगमप्रमाणका भी स्वरूप कहकर दृष्टान्तके साथ निरूपण करते. कुछ नहीं तो धर्मास्तिकायादिकके निरूपण-

में तो दृष्टान्तादि जरूर दिखाते. लेकिन् किसी भी स्थानमें दृष्टान्त दिखाया नहीं है. तो इधर अत्यन्तसुगमस्थानमें दृष्टान्त दिखाना यह सूत्रकारमहाराजको कैसे उचित होवे? इधर अक्षपादादि सूत्रकार भी अपने किये हुए सूत्रोंमें इस तरहसे दृष्टान्त नहीं दिखाते हैं तो फिर इधर संग्रहकार होकर दृष्टान्त दिखानेके लिए सूत्र कहें यह कैसे संभवित हो सकता है? यद्यपि दूसरे सूत्रकार दृष्टान्तबलसे याने बहिर्व्याप्तिसे पदार्थकी सिद्धिको माननेवाले होनेंसे दृष्टान्तका सूत्र कहभी सक्ते हैं, तथापि वे लोग सूत्ररचनाके वक्त दृष्टान्तको मुख्य पद नहीं देते हैं, तो फिर जैनाचार्य जो अन्तर्व्याप्तिसे ही याने अन्यथाऽनुपपत्तिसे ही साध्यकी सिद्धि माननेवाले होकर ऐसे लघुग्रन्थमें दृष्टान्तादिकको डालें यह कैसे संभवित हो सकता है?, मान लिया जाय कि मोक्षकी स्थिति अत्यन्त उपादेय होनेंसे उसकी सिद्धिके लिये दृष्टान्तादि जरूर जताना चाहिये तो फिर 'पूर्वप्रयोगा०' इत्यादिसूत्रमें ही दृष्टान्त कह देना लाजिम होवे, याने 'कुलालचक्रवत्पूर्वप्रयोगादलाबुवदसंगत्वादेरण्डबीजवद्बन्धच्छेदादग्निशिखावत्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः' ऐसा ही कहना लाजिम था. क्योंकि दृष्टान्तका सूत्र अलग करनेसे सभी हेतु अर्थान्तरसे दुबारा कहना पडा है. संग्रहके हिसाबसे वार वार वत्प्रत्यय और वार वार पंचमीका कथन करके हेतुका प्रयोग दिखानेका भी

नहीं था, किन्तु 'पूर्वप्रयोगासंगत्वबंधच्छेदनथागतिपरिणामे-
श्चक्रालाब्वेरण्डाग्निशिखावद्' इतना ही कहना लाजिम था.
क्योंकि यथासंख्यपनसे हेतुदृष्टान्तोंका समन्वय और सोप-
स्कार ही सूत्र होनेके नियमसे यथार्थ व्याख्या हो जाती.

इस स्थानमें श्वेताम्बरोंके हिसाबसे 'पूर्वप्रयोगादित्यादि'-
में हरएक पद पर पंचमीका प्रयोग क्यों किया गया है ? यह
भी सोचनेका ही है. वे श्वेताम्बरलोग उस सूत्रमें आखिरमें
'तद्गतिः' ऐसा पद मानते हैं. और उसकी हयाती होनेकी
जरूरत यों मानते हैं कि आगेके याने चतुर्थसूत्रमें 'गच्छत्या-
लोकान्तात्' इस स्थानमें गतिका अधिकार आगया है और
इधर भी गति ही पूर्वप्रयोगादिकसे सिद्ध करनी है तो फिर
'तद्गतिः' यह पद लेनेकी कुछ जरूरत नहीं थी. लेकिन इधर
जो 'तद्गतिः' पद सूत्रकारने लिया है इसका मायना यह है
कि सिद्धमहाराजकी कर्मक्षय होनेसे अचिन्त्यपनसे गति होती
है, और उस गतिके सबबको अपन नहीं जान सकते हैं तथापि
यह समाधान श्रद्धानुसारि सज्जनोंके लिये ही उपयोगी होगा,
लेकिन तर्कानुसारियोंके लिये सबब दिखानेकी जरूरत है ऐसा
मानकर यह सूत्र बनाया है. और इधर तर्कानुसारीके लिये
हेतु दिखानेको सभी हेतु अलग अलग दिखाये हैं. क्योंकि
कोई किस हेतुसे समझे और कोई किस हेतुसे समझे, इसीसे ही
तो एकहेतुके प्रयोग पर दूसरे आदि हेतु करने पर भी दूषण

नहीं होता है, अन्यथा एकहेतुसे साध्यकी सिद्धि होने पर अन्यहेतुओंका प्रयोग करना न्यायशास्त्रसे विरुद्ध है, असलमें तो यह गति अचिन्त्यस्वभावकी स्थितिसे ही है, अन्यथा अधोलौकिकग्रामोंसे सिद्धि पानेवालेमें और ऊर्ध्वलोकमें सिद्धि पानेवालेमें पूर्वप्रयोगादिका तारतम्य मानना होगा, जो कि किसी तरहसे इष्ट नहीं है. इसी कारणसे तो पेश्तरके सूत्रमें 'गच्छति' ऐसा प्रयोग रक्खा है, और इधर 'तद्गतिः' यह अलग पद रक्खा है इतनाही नहीं, बल्कि पेश्तरके सूत्रमें 'आलोकान्तात्, ऐसा पद लगाकर सूत्रकारने सिद्धमहाराजकी गतिका विषय शास्त्रकी अपेक्षासे वहां ही खतम किया है, अन्यथा चौथा सूत्र अलग नहीं करते. दोनों सूत्र एकत्र करके 'तदनन्तरमालोकान्तादूर्ध्वं पूर्वप्रयोगादिभ्यो गतिः' इतना ही कहना बस होता, और दाखला भी देना होता तो 'चक्रादिवत्', इतना ज्यादा लगा देते. लेकिन सूत्रकारमहाराजने अधिकारिभेदसे अलग अलग सूत्र किये हैं. इसी तरहसे प्रथमाध्यायमें भी सूत्रकारमहाराजने 'निर्देशस्वामित्व०' सूत्र और 'सत्संख्या'० ये सूत्र अलग २ किये और श्रद्धानुसारि व तर्कानुसारिको ऐसा करके ही समझाये हैं, याने इधर तर्कानुसारिके लिये अलग सूत्र किया और गतिकी सिद्धि की, इससे 'तद्गतिः' पद धरनेकी जरूरत है. ऐसा भी नहीं कहना कि जब तर्कानुसारियोंके लिये सिद्धमहाराजकी गतिकी सिद्धिके लिये हेतुकी जरूरत थी तो

हेतु दिखा दिये, लेकिन 'तद्गतिः' इस पदसे क्या फायदा है? इसका समाधान यह है कि पहिले 'गच्छति' ऐसा पद धरा है वह तो यथावस्थितस्वरूप व्याख्यानके लिये है और सिद्धोंकी गति सुनने बाद शंका होवेके उन सिद्धमहाराजको न तो कोई सिद्धक्षेत्रमें लेजानेवाला है, और न कोई कर्मका उदय है, न इधरसे फेंकनेवाला या भेजनेवाला है, तो फिर उनकी गति किस सबबसे होती है? ऐसी शंकाके समाधानके लिये इन हेतुओंका कथन करना और 'तद्गतिः' यह पद कहना लाजिम ही है. ऐसी भी शंका नहीं करना कि जब तर्कानुसारियोंके लिये हेतुओंका कहना और 'तद्गति' पद धरना लाजिम है तो फिर उनके लिये ही दृष्टान्त कहना क्यों जरूरी न होगा? क्योंकि 'सकषायत्वात्०' सूत्रमें जैसे हेतु कहने पर भी दृष्टान्त नहीं लिया इसी तरह इधर भी दृष्टान्त नहीं लिया है.

(२८) दशवें ही अध्यायमें दिगम्बरलोग 'आविद्ध-कुलालचक्रवदित्यादि' सूत्रके बाद 'धर्मास्तिकायाभावात्' ऐसा सूत्र मानते हैं. यह सूत्र दिगम्बरोंने किस रीतिसे डाल दिया इसका पता नहीं है सबब कि पेश्तरके 'पूर्वप्रयोगा०' और 'आविद्धकुलालचक्र०' इत्यादि इन दो सूत्रोंसे सिद्धमहाराज की लोकान्त तक ऊर्ध्वगति होनेका हेतु और दृष्टान्त दिखाया है. और उस गतिमें यदि हेतु लिया जाय तब तो यही कहना होवे कि 'तावद्धर्मास्तिकायात' याने लोकान्त तक ही धर्मा-

स्तिकाय है. इससे सिद्धमहाराजकी गति लोकान्त तक ही ऊर्ध्वमें होवे. लेकिन इधर तो दिगम्बरोंने सूत्र उलटा धर दिया है याने हेतुमें कहा कि धर्मास्तिकायका अभाव है. तो क्या धर्मास्तिकायके अभावसे सिद्धोंकी ऊर्ध्वमें लोकान्त तक गति होती है ऐसा मानते हैं ? कभी ऐसा मानना नहीं होगा. आगे ही पांचवें अध्यायमें साफ २ कहा है कि 'गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः' याने जीव और पुद्गलोंकी गतिमें धर्मास्तिकाय ही सहारा देता है और उन दोनोंकी स्थितिमें अधर्मास्तिकाय सहारा देता है. जब यह बात निश्चित है तो फिर धर्मास्तिकायके अभावसे सिद्धोंकी गति है ऐसा कैसे कह सकेंगे ? कभी मान लिया जाय कि संसारीजीवोंकी गतिमें धर्मास्तिकाय कारण है. परन्तु सिद्धमहाराजकी गतिके लिये धर्मास्तिकायको हेतु माननेकी जरूरत नहीं है. लेकिन ऐसा कोई भी फिरकेवाला मानता नहीं है. यदि ऐसा मान लिया जाय और इसीसे ही सिद्धमहाराजकी गतिमें धर्मास्तिकायके अभावको हेतु मान लिया जाय तो पेश्तर तो खुद सूत्रकारने कही हुई लोकान्ततककी ऊर्ध्व गति ही नहीं रहेगी. सबब यह है कि लोकान्त तकके सर्व स्थानमें धर्मास्तिकाय व्याप्त ही है. सूत्रकारमहाराजने भी 'लोकाकाशेऽवगाहः' 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' यह कहकर समग्रलोकमें धर्मास्तिकायका होना मंजूर किया है. तो फिर लोकान्त तक भी मुक्तोंकी गति कैसे होगी ?

इस सब झंझटसे छूटनेके लिये एक ही रास्ता है और वह यह है कि धर्मास्तिकायका अभावरूप हेतु सिद्धमहाराजकी गतिमें नहीं रखना. क्योंकि धर्मास्तिकायका अभाव तो सर्वअलोकमें है और धर्मास्तिकायके अभावसे सिद्धमहाराजकी गति मानें तो उन्होंकी गति सब अलोकमें होवे, और अलोकाकाशका अन्त ही नहीं है. जिससे सिद्धमहाराजकी हरदम गति होती ही रहे. इस हेतुसे सिद्धमहाराजकी गतिमें धर्मास्तिकायके अभावको कारण नहीं माननाही लाजिम है, किन्तु लोकान्तसे आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे लोकान्तसे आगे सिद्धमहाराजोंकी गति नहीं है, ऐसा दिखानेके लिये यह सूत्र है. याने धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे सिद्धकी आगे गति नहीं होती है. यद्यपि इस तरहसे दिगम्बरोंका मानना लाजिम हो जावे, लेकिन सूत्र इस बातको अनुकूल नहीं गिनता है, क्योंकि इससूत्रमें सिद्धमहाराजकी गतिका अधिकार है किन्तु अलोकमें सिद्धगतिके अभावको सूचित करनेवाला शब्द भी नहीं है. कभी श्वेताम्बरोंने 'तद्गतिः' ऐसा पद 'पूर्वप्रयोगा०' सूत्रमें रक्खा है और उधर 'तद्' शब्द जैसा सर्वनाम है और भिन्न भिन्न विभक्तिसे ही और २ अर्थको देता है. उसी तरहसे 'तद्' शब्द अव्यय भी है और अव्ययसे आगे आई हुई सब विभक्तियां उड जाती हैं. लेकिन वे उडी हुई विभक्तियां अपने अर्थको दिखाती हैं इससे अर्थ करनेमें 'तद्' शब्दको अव्यय ले लें तो सिद्धोंका अधिकार तो आ

जायगा. लेकिन गति होनेकी ही बात रहेगी याने गति नहीं होनेकी तो बात किसी भी तरहसे रह सके ऐसी नहीं है. इस सबबसे साफ सबूत होता है कि किसी दिगम्बरने अपनी अक्कलकी न्यूनतासे पूर्णतया सोचे बिना ही यह सूत्र इधर बढा दिया है, श्वेताम्बरलोग तो इस सूत्रको मंजूर नहीं करते हैं.

उपर्युक्त २८ मुद्दोंको सोचनेवाले मनुष्योंको साफ साफ मालूम हो जायगा कि दिगम्बरोंने अपनी बदयानतसे या अक्कलकी न्यूनतासे एक छोटेसे ही तत्त्वार्थसूत्रमें कमबेशीपना करके स्वच्छन्दताका राज्य जमाया है.

जिस तरहसे इन दिगम्बरोंने असली सूत्रोंको उडाकर तथा नये सूत्रोंको डालकर सूत्रमय ग्रन्थमें घोटाला किया है उसी तरहसे इन दिगम्बरोंने श्रीमान्‌उमास्वातिवाचकजी-महाराजके बनाये हुए इस तत्त्वार्थग्रंथके सूत्रोंको भी स्थान स्थान पर न्यूनाधिक करके पूरा घोटाला कर दिया है. यह बात वाचकोंको आगेके लेखसे साफ मालूम हो जावेगी ।

इस तत्त्वार्थ सरीखे एक दो सौ श्लोकके ग्रन्थमें दिगम्बरोंने सूत्रोंका सर्वथा बढाना और घटाना कितना जबरदस्त कर दिया है? यह बात उपर्युक्त भागसे साबित कर दी है. अब इन्हीं दिगम्बरोंने इसी तत्त्वार्थमें कौन २ सूत्रोंके पाठमें न्यूनाधिकता की है, यह दिखलाया जाता है, यद्यपि इन्होंने 'प' के स्थानमें 'ब' और 'त' के स्थानमें 'द' अपायके स्थानमें अवाय

और औपपातिकके स्थानमें औपपादिक आदि की माफिक करके पलटा किया है, लेकिन उस बातको व्यंजनभेद करना यह जैनमजहबके हिसाबसे बडा दोष होने पर भी गौण करके इधर तो जिधर व्यंजनभेद और अर्थभेद दोनों होवे वैसा ही स्थान दिखाकर समालोचना की जायगी।

सूत्रपाठों का विपर्यास

१ प्रथम अध्यायमें इन लोगोंने 'द्विविधोऽवधिः,' ऐसा सूत्र नहीं माना, इसी ही कारणसे उन्होंने 'भवप्रत्ययो नारकदेवानां', ऐसे सूत्रके स्थानमें 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां', ऐसा माना है. याने पेश्तर अवधिके भेदको दिखानेवाला सूत्र न मानकर इधर अवधिज्ञानका अधिकार न होनेसे अवधिका आधिकार दिखानेको अवधिशब्द दाखिल किया. यद्यपि अवधिके आधिकारको दिखानेका सूत्र न करके इधर अवधिशब्द कहनेसे अवधिका अधिकार आजायगा. लेकिन आगेके सूत्रमें अवधिके अधिकारको सूचित करनेके लिए अवधिशब्द कहांसे आयेगा? दो भेदको दिखानेवाला सूत्र मान लिया जाय तब तो एक भेद भवप्रत्ययका दिखाया, बादमें दूसरा भेद इधर दूसरे सूत्रसे दिखाना होनेसे अवधिशब्दकी जरूरत दूसरे सूत्रमें नहीं होगी. लेकिन अधिकारसे ही अवधिशब्द आ जायगा. यद्यपि अवधिपदकी अनुवृत्ति इधर सूत्रमें आ

सकता है, लेकिन सूत्रकार महाराजकी शैली ऐसी है कि अनुवृत्ति करनेके लिये प्रयत्न करना. जैसे दूसरे अध्यायमें औपशमिकके भेदकी संख्यामें सम्यक्त्व और चारित्र कहे और पीछे उनको क्षायिकके भेदमें भी लेना था तो वहां पर अनुवृत्ति-दिखानेके लिये चशब्दको दाखिल किया. इधर पेश्तरके अध्यायमें ही 'मतिः स्मृतिः०,' इस सूत्रनें मतिका निरूपण करने पर भी आगे मतिज्ञान लेना था तो 'तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तं' ऐसा सूत्र कहकर तत्शब्दको दाखिल किया. इसी-तरहसे सारे तत्त्वार्थमें अधिकार और अनुवृत्तिके लिये चशब्द या तत्शब्द दाखिल किये हैं तो फिर इधर इस सूत्रमें दाखल किया हुआ अवधिशब्द आगे 'यथोक्त०' सूत्रमें किस तरह जायगा? यह तो अवधि शब्द इधर घुसेडनेका विचार हुआ, लेकिन इन्होंने 'नारकदेवानां', ऐसा जो पाठ इस सूत्रमें था वो भी पलटा दिया और 'देवनारकाणां' ऐसा पाठ कर दिया. सूत्रकारमहाराजने अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक वैसा क्रम रक्खा है. और इसीसे ही स्थान निरूपणमें पेश्तर नारकी, पीछे मनुष्य तिर्यंच और पीछे देवका निरूपण किया है. और आयुके कारणमें भी नारकादिक अनुक्रम रक्खा है. आयुकी प्रकृतियोंको दिखानेमें भी पेश्तर नारककी ही आयुप्रकृति दिखाई है, तो इधर 'नारकदेवानां' ऐसा पद रखना यही सूत्रकारको अभिमत होना चाहिये.

(२) इसी सूत्रके आगेके सूत्रमें श्वेताम्बर 'यथोक्त-निमित्तः' ऐसा पाठ मानते हैं. तब दिगम्बर लोग 'क्षयोपशम-निमित्तः' ऐसा मानते हैं.

श्वेताम्बरोंका कहना है कि आगे दूसरे अध्यायमें क्षायो-पशमिकके भेदोंमें अवधिज्ञानको गिनायेंगे इससे इधर 'यथोक्त-निमित्त' ही शब्द कहना ठीक है. क्योंकि यहां पर तो अपने अपने कर्मके क्षयोपशमसे मतिज्ञानादिककी उत्पत्ति इस प्रकरणमें निश्चित होती है. किन्तु इधर क्षयोपशमशब्द कहनेसे किसका क्षयोपशम लेना यह निश्चित नहीं होगा. क्योंकि मतिज्ञानादि-ज्ञान और चक्षुदर्शनादि दर्शन और दूसरे भी अज्ञानादिक क्षायोपशमिक भावके हैं. और वे भी अपने अपने आवारककर्मके क्षयोपशमसे होते हैं, तो फिर इधर किसका क्षयोपशम लेना ?, यह संदिग्धही होगा. याने क्षयोपशमकी साथ इतना जरूर कहना होगा कि 'स्वावारकक्षयोपशमनिमित्तः' ऐसा अवधि-मनुष्य तिर्यंचको होता है, इधर ऐसी शंका जरूर होगी कि कर्मकी प्रकृतिके क्षयोपशमका अधिकार अभी तक कहा ही नहीं है, तो फिर इधर 'यथोक्तनिमित्तः' ऐसा कैसे कह सके ? लेकिन ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये. इसका सबब यह है कि अव्वल तो शास्त्रकारमहाराजने जैनशास्त्रके आधारसे ही ग्रन्थ किया है, इससे शास्त्रका अधिकार लेकर 'यथोक्तनिमित्तः' ऐसा कह सकते हैं. व्याकरणशास्त्रादिककी तरह स्वतन्त्र

संज्ञादि विधान करके शास्त्र नहीं बनाया है, किन्तु जैनशास्त्रका एक भाग संगृहीत किया है. इसीसे ही तो ज्ञानादि कर्मादि लोकादि औपशमिकादि अनेक पदार्थोंके इधर स्वरूप नहीं कहे हैं.

दिगम्बरोंका यदि ऐसा कहना होवे कि शास्त्रमें कहे हुए बयानको खयालमें रखकर ही शास्त्रकारने 'क्षयोपशमनिमित्तः' ऐसा कहा है. लेकिन जब शास्त्रकी अपेक्षासे इधर कहना है तब तो 'यथोक्तनिमित्तः' यहां कहना ठीक होगा. क्योंकि लाघव भी इसमें है और क्षयोपशमशब्द आपेक्षिक होनेसे अवधिज्ञानावरणको कहे विना कैसे क्षयोपशमकी व्याख्या होगी ?

(३) इसी ही अध्यायमें मतिश्रुतज्ञानके विषयका जो सूत्र 'मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' ऐसा था. उसमेंसे दिगम्बरोंने आदिका सर्वशब्द निकाल दिया और 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' ऐसा पाठ किया. इस स्थानमें असल मतिश्रुतज्ञानसे सभी द्रव्य जाने जाते हैं. यह बात तो दोनोंको भी मंजूर है, तो फिर सर्वशब्द निकालनेकी क्या जरूरत थी ?, दिगम्बरोंका कभी ऐसा कथन होवे कि 'द्रव्येषु' इतना कहनेसे ही सर्वद्रव्य आजायेंगे इससे 'द्रव्येषु' या 'सर्वद्रव्येषु' दोनोंमेंसे कुछ भी कहे उसमें हर्ज नहीं है. लेकिन यदि ऐसा ही होवे तो फिर केवलज्ञानके विषयको

दिखानेवाले सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' क्यों कहना ? जब उधर सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायका विषय दिखानेके लिये वहां पर सर्वशब्दको लेनेकी जरूरत है तो फिर इधर सर्वशब्दको क्यों छोड देना ?, कभी मतिश्रुतका विषय सब द्रव्य है. ऐसा नहीं मानेंगे तो इधर सर्वशब्दकी जरूरत नहीं रहती है तो वह मानना भी व्यर्थ है. सबब कि ऐसा माननेमें छद्मस्थको मृषावादकी और परिग्रहकी विरति संपूर्ण नहीं होगी. क्योंकि मृषावाद और परिग्रह सब द्रव्य विषय है, इससे इधर सर्वशब्द जरूर रहना चाहिये.

(४) दूसरे अध्यायमें क्षायोपशमिक अठ्ठारह भेद दिखाते श्वेताम्बर 'ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयः०' ऐसा पाठ मानते हैं. तब दिगम्बर लोग 'ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः०' ऐसा पाठ मानते हैं. अब इधर इतनी बात तो साफ है कि दोनों फिरकेवाले आमर्षौषधिआदि अनेक लब्धियां मानते हैं. याने अकेली दानादि पांच ही लब्धियां नहीं है. जब ऐसा है तो फिर सिर्फ लब्धिशब्द कहनेसे दानादिककी ही लब्धि लेना यह नियम कैसे होगा ? सारे तत्त्वार्थसूत्रमें किसी भी स्थानमें इन दानादिकको लब्धि तरीके नहीं दिखाये हैं तो फिर इधर लब्धि कहनेसे दानादिक पांच ही लेना यह निश्चय कैसे होगा ? और जब ऐसा निश्चय ही नहीं होगा तो फिर लब्धिशब्दके साथ पंचशब्द कैसे लगाया जायगा ? यह शंका इधर

जरूर होगी कि पेश्तरके सूत्रमें क्षायिकके नवभेद दिखाते दानादिक पांच स्पष्ट दिखाये हैं. तो इधर 'दानादि' इतना ही नहीं कहते 'दानादिलब्धयः' ऐसा श्वेताम्बरोंने क्यों कहा ? लेकिन ऐसी शंका नहीं करना. सबब कि क्षायोपशमिकभावके दानादिक पांच प्रवृत्तिमें आते हैं और जगतमें व्यवहारमें भी आते हैं, इससे उसका लब्धि तरीके व्यवहार होता है और क्षायिकभावसे होनेवाले दानादिक प्रवृत्तिरूप ही होवे वैसा नहीं है. इसी सबबसे पेश्तर दानादिकके साथ लब्धिशब्द नहीं लगाया और इधर क्षायोपशमिकभेदमें ही दानादिकके साथ लब्धिशब्द लगाया है यह समझ लेवें.

(५) दूसरे अध्यायमें ही औदयिकके इक्कीसभेदोंमें श्वेताम्बरोंने 'मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्व०' ऐसा पाठ माना है. तब दिगम्बरोंने 'मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध०' ऐसा पाठ माना है. याने श्वेताम्बरोंने 'त्व' प्रत्यय मानकर असंयतत्व और असिद्धत्व माना है. दिगम्बरोंने त्वप्रत्यय नहीं लिया है, इससे असंयत और असिद्धको औदयिक मानना होगा, लेकिन वह लाजिम नहीं होगा, क्योंकि असंयत और असिद्ध ऐसे तो जीव आयेंगे, और जीव तो औदयिकभावसे नहीं है. यदि भावप्रधान निर्देश मानके इधर असंयतत्व और असिद्धत्वको लेना है तो पीछे 'त्व' प्रत्यय ही कहना क्या बुरा था ?, और त्वप्रत्यय था उसको क्यों उडा दिया ? शास्त्र-

कारने इसी ही अध्यायमें '०भव्यत्व०' में त्वप्रत्यय लिया है और दशवें अध्यायमें भी 'भव्यत्व' कहा ही है, याने शास्त्रकार त्वप्रत्ययको स्पष्टपणेसे कहते ही हैं तो पीछे इधर क्यों न कहेंवे ? दूसरे अध्यायके पारिणामिकभावको दिखानेवाले सूत्रमें श्वेताम्बरों 'जीवभव्याभव्यत्वादीनि च' ऐसा सूत्र मानके आदिशब्दसे असंख्याताद्रिप्रदेशादि लेते हैं जब दिगंबरलोग 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' ऐसा मानते हैं. यद्यपि दिगंबरलोग भी भव्यत्वादिककी तरह असंख्यप्रदेशत्वादि भी पारिणामिग है ऐसा तो मानते हैं, लेकिन इधर आदिशब्दका होना नहीं मंजूर करते हैं, इधर कभी ऐसी शंका होवे के यदि इधर आदिशब्दसे और भेद लेने हैं तो पीछे वे स्पष्ट ही क्यों नहीं कहे ? सूत्रकारने उद्देशकी वक्त भी क्यों नहीं किये, कहते समय पारिणामिकके तीन ही भेद क्यों लिए? लेकिन यह शंका नहीं करनी, शंका नहीं करनेका सबब यह है के असंख्यप्रदेशादिकभाव पारिणामिक होने पर भी असाधारण नहीं है, इससे स्पष्टशब्दसे नहीं दिखाये, और भेदकी गिनतीमें भी नहीं लिये. लेकिन उनके लिये इधर सूचना भी नहीं करना यह कैसे ठीक होगा ? अंतमें जैसे जीवके लिये जीवत्व अनादिपारिणामिक है उसी तरहसे अजीवका अजीवत्व भी पारिणामिक भाव अनादि है, उसको भी दिखानेके लिये आदिशब्दकी जरूरत थी.

(६) इसी दूसरे अध्यायमें श्वेताम्बर 'पृथिव्यब्वनस्पतयः

स्थावराः' और 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' इस तरहसे त्रस और स्थावरका विभाग करके पृथ्वीकाय, अप्काय, और वनस्पतिकाय इन तीनको स्थावर और तेउकाय, वायुकाय और बेइंद्रियआदिको त्रस मानते हैं और इसीसे ही आगे इन्द्रियके सूत्रमें 'वाय्वन्तानामेकं' ऐसा सूत्र मानते हैं. याने पृथ्वीकायसे लगाकर वायुकाय तकके जीवोंको एक ही स्पर्शनेन्द्रिय है, ऐसा श्वेताम्बरोंका मन्तव्य है, जब दिगम्बर लोग 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' 'द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः' और 'वनस्पत्यन्तानामेकं' ऐसे क्रमसे तीन सूत्र उसके स्थानमें मानते हैं. असलमें इन दोनोंमें इन्द्रियके विषयमें तो मन्तव्य भेद नहीं है, लेकिन त्रससंज्ञा कितनी कायको होवे और स्थावरसंज्ञा कितनी कायको होवे इसमें दोनोंका मतभेद हो जायगा. व्याकरणके हिसाबसे सोचनेसे साफ मालूम होता है कि 'स्थानशीलाः स्थावराः' याने स्थिर ही रहे उसका नाम स्थावर अब पृथिवीकाय अप्काय और वनस्पतिकाय स्थिर रहनेवाले हैं, इससे इन तीनको ही स्थावर कहना अनुचित न होगा. इनमें यद्यपि नदीआदिके प्रवाहादि दिखनेसे यह मालूम होगा कि अप्कायको स्थावर कैसे कहा जाय? ऐसी शंका होगी. लेकिन स्थलके नीचेपनसे जलका गमन है, किन्तु स्वभावसे गमन नहीं है. और दूसरे कारणोंसे गमन होवे इससे स्थावरपन नहीं मिटता है. लेकिन अग्निकाय और वायुकायका तो

अपने स्वभाव ही से चलनरूप गमन होता है. इससे उनको त्रस कहनेमें क्या हर्ज है?. ऐसा नहीं कहना कि सुखदुःखकी इच्छासे ही हीलचाल करे उसीका ही नाम त्रस कहा जाय. क्योंकि ऐसा कहनेसे तो त्रसरेणुशब्दसे क्या लेना ? त्रसरेणु तो उसी ही जड पदार्थका नाम हैं जो बारीक होकर पूर्वापर वायुआदिके कारणसे पश्चिम पूर्वकी ओर धसे. यह सब कहनेका मतलब यह है कि अग्निकाय और वायुकायको त्रसमें ले सक्ते हैं. अलबत्तः इनको गतिके कारणसे त्रस कहेंगे, परंतु सुखदुःखके कारणसे हलचल नहीं होनेसे लब्धिसे स्थावर कहना होगा. याने जैसे बेइन्द्रियादिक लब्धिसे त्रस हैं ऐसे ये लब्धिसे त्रस नहीं हैं, और इसी कारणसे तो त्रसकायके सूत्रमें तत्त्वार्थकार महाराजने 'तेजोवायू' यों समास अलग करके इन दोनोंका अलग स्वरूप दिखाया है. क्योंकि ऐसा कुछ अभिप्राय न होता तो 'तेजोवायुद्वीन्द्रियादयस्त्रसाः' ऐसा सूत्र करते, जिससे अलग विभक्ति भी नहीं रखनी होती और चकारको भी बढाना नहीं पडता. ऐसा नहीं कहना कि श्वेताम्बरोंके किसी शास्त्रमें तेजो और वायुको त्रस तरीके नहीं गिने हैं. किन्तु स्थानांग भगवतीजी पण्णवणादिशास्त्रोंमें पृथ्व्यादिक पांचोंको ही स्थावर गिने हैं. ऐसा नहीं कहनेका यह सबब है कि जीवाभिगम और आचारांगआदिमें तेज और वायुको स्थावरमें नहीं गिनते त्रसमें गिने भी हैं. तत्त्वसे तो तेजःकाय

और वायुकाय गतिसे त्रस हैं और लब्धिसे स्थावर हैं. इससे इन दोनोंको त्रस और स्थावरमें गिने हैं. लेकिन इधर तर्कानुसारियोंके तर्कका खयाल करके दोनों बात दिखाना शास्त्रकारके हिसाबसे लाजिम है.

(७) सूत्र २०में दिगम्बरलोगोंने 'स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः' ऐसा सूत्र माना है. और श्वेताम्बरोंने 'स्पर्शरसगन्धरूपशब्दास्तेषामर्थः' ऐसा माना है, इसमें तीन बातका फरक है. १ वर्ण लेना कि रूप लेना २ तद् लेना कि तेषां लेना और ३ अर्थ लेना कि अर्थाः लेना. यद्यपि इनमेंसे किसी भी तरहसे लेने पर तात्त्विक मन्तव्यका फर्क नहीं होगा. लेकिन असल क्या होना चाहिये यह सोचनेका है. खयाल करनेका है कि पांचवें अध्यायमें 'नित्यावस्थितान्यरूपीणि', और 'रूपिणः पुद्गलाः' लेना है, परंतु वर्ण नहीं लेना है, इन सूत्रोंको दोनों मंजूर करते हैं. और वहां रूपशब्दसे दृश्यमानता ही लेनी है, तो फिर इधर रूपशब्दको पलटानेकी क्या जरूरत है ?, वहां भी रूपशब्दसे ही उपलक्षणसे स्पर्शादिक भी लेकर धर्मास्तिकायादिकमें रूपरसगंधस्पर्श और शब्दमेंसे कुछ भी नहीं है यही कहनेका है. यदि रूपशब्द इधर न लेवें तो गन्धादिकका अभाव उपलक्षणसे कैसे लेंगे ? रूपशब्दसे वहां पर पांचवें अध्यायमें मूर्त्तिमत्ता लेना होवे और इधर वर्णशब्दसे शुक्लादि लेना हो तो यह बात अलग है. परन्तु इधर इन्द्रियोंका विषय कहना है

और सबही मजहब वाले चक्षुका विषय वर्ण नहीं मानते हैं, किंतु रूपही मानते हैं, तो फिर इधर विषयके स्थामें रूपही कहना मुनासिब है. और पुद्गलके स्थानमें ही वर्ण शब्द लाजिम है, लेकिन 'तदर्थाः' पद जो किया है वह ठीक नहीं है. इसका असल तो यह कारण है कि इधर अर्थशब्दको समास कर लेनेसे आगेके सूत्रमें 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' के स्थानमें अर्थशब्दकी अनुवृत्ति नहीं होगी, और इधर 'अर्थाः' पद रक्खा तो वहां 'अर्थः' ऐसा एकवचनान्त पद लगाना कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि पेस्तरके सूत्रमें 'श्रोत्राणि' ऐसा बहुवचनान्त सूत्र है. उसका सम्बन्ध 'तेषां' ऐसे बहुवचन बिना कैसे लगाना ? यदि सम्बन्ध ही नहीं लगाना है तो फिर तद्शब्दका प्रयोजन ही क्या है ? तीसरी बात यह है कि 'अर्थाः' ऐसा बहुवचन रखनेसे हरएक इन्द्रियमें हरएक विषयकी प्राप्ति हो जायगी. इससे एकवचन करनेसे एक २ इन्द्रियका एक एक ही विषय सम्बद्ध होगा. इससे साफ होगा कि 'तेषामर्थः' ऐसा ही पद रखना लाजिम होगा.

(८) सूत्र २९ में दिगम्बरोंने 'एकसमयाऽविग्रहा' ऐसा सूत्र माना है, और श्वेताम्बरोंने 'एकसमयोऽविग्रहः' ऐसा सूत्र माना है. दिगम्बरोंके हिसाबसे यह सूत्र अविग्रहानामकी गतिका स्वरूप दिखानेके लिये है अविग्रहा नामकी गति जो सूत्र २१ में कही गई है उसका इधर स्वरूप है याने वहां सूत्र

में 'अविग्रहा जीवस्य' ऐसा ही सिर्फ कहा था. याने अविग्रहाका वक्त नहीं दिखाया था, वह वक्त इधर दिखाया. लेकिन श्वेताम्बरोंके हिसाबसे यह सूत्र अविग्रहागतिका वक्त दिखाने वाला होनेके साथ विग्रहगतिमें भी आद्यके समयकी गतिको अविग्रहापन दिखानेके लिये है, और इसीसे ही गतिमें जितने समय लगे उनमेंसे एकसमयको कम करके बाकीके समय विग्रह तरीके गिन सक्ते हैं. नियम भी यही है कि चाहे जितने ही समयकी वक्रगति हो, लेकिन आद्यसमयमें तो ऋजुगति ही होगी. इस स्थानमें अकलमन्द आदमी समझ सकते हैं कि यदि शास्त्रकारको अविग्रहाका वक्त ही कहना था तब तो 'अविग्रहा जीवस्यैकसमया,' ऐसा 'एकसमयाऽविग्रहा जीवस्य,' ऐसा या 'जीवस्यैकसमयाऽविग्रहा, ऐसा या 'अविग्रहा जीवस्यैसैकसमया' ऐसा पाठ करते. लेकिन 'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः,' ऐसा विग्रहगतिका अधिकार शुरू करके बीचमें अविग्रहका अधिकार नहीं लेते. इतना ही नहीं, किन्तु 'एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः' ऐसा विग्रहके अनाहारकपनका टाइम दिखानेवाले सूत्रके बीचमें कभी भी नहीं डालते इससे साफ है कि किसी दिगम्बरने अपनी अकल लगाकर गतिके साथ लगानेके लिये इस सूत्रमें 'एकसमयाऽविग्रहा' ऐसा कर दिया है।

(१०) सूत्र ३० में दिगम्बरोंके मतसे 'एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः' ऐसा पाठ है. तब श्वेताम्बरोंके मतसे 'एकं द्वौ वाऽ-

नाहारकः' ऐसा पाठ है इधर सोचनेका यह है कि जब पेश्तर-
के सूत्रमें 'प्राक् चतुर्भ्यः' कहकर तीन ही समय तक विग्रहका
होना माना है, और उसमें एकसमयको विग्रह तरीके माननेका
ही नहीं है, तो फिर तीन समय अनाहारके कहांसे होंगे?
और तीनसमयकी गतिमें तीनों ही समय अनाहारके मानोंगे
तब तो एकसमयका अविग्रह कहां रहेगा? और ऋजुगतिमें
भी अनाहारकपना मानना होगा. इससे 'एकं द्वौ वाऽनाहारकः'
ऐसा कहना ही लाजिम होगा. ऐसी शंका नहीं करना कि
विग्रहगति पांच समय तककी होती है. क्योंकि जो अधोलोकके
कोणमेंसे ऊर्ध्वलोकके कोणमें उत्पन्न होगा उसको पांच ही
समय होंगे. आद्यसमयमें विदिशासे दिशामें आवेगा. दूसरे
समयमें त्रसनाडीमें आवेगा. तीसरे समयमें ऊर्ध्वलोकमें जायगा
और चौथे समयमें दिशामें जाकर पांचवें समयमें विदिशामें
जायगा. जब इस तरहसे पांचसमयकी गति होकर चार वक्र
होते हैं, तो फिर इधर तीन वक्र ही क्यों कहे? ऐसी शंका
नहीं करनेका सबब यह है कि ऐसा संभव होने पर बहुतायतसे
ऐसी गति नहीं होती है. और इसीसबबसे भगवतीसूत्रमें भी
चार समयकी गतिका ही अधिकार लिया है. चारसमयकी
गतिमें आद्यान्तसमयोंमें अनाहारक न होनेसे दो ही समय
अनाहारपना रहता है, और इसीसे ही इधर एक या दो समय
ही अनाहारकपनका लिया है. टीकाकारसिद्धसेनसूरिजीमहा-

और यहां पर वाशब्दकी व्याख्यामें उपलक्षणसे पांचसमयकी गति और तीनसमयका अनाहारपना दिखाते हैं. लेकिन तीन-समयकी या चारसमयकी गति लेना और तीनसमयका अना-हारकपना लेना यह तो साफ ही अयोग्य हैं. सूत्रकार श्री-उमास्वातिजीने भी 'प्राक् चतुर्भ्यः' ऐसा कहकर तीनों ही विग्रह इधर लिये हैं और विग्रह जितने होवें उतने ही अनाहार-पन लेना होता तब तो 'अनाहारविग्रहवती०' या 'विग्रहवदना-हारा०' ऐसा एक ही सूत्र कर देते. अलग अलग विग्रह और अनाहारका सूत्र करनेकी कुछ भी जरूर नहीं थी, परन्तु अन्त-का विग्रह अनाहारमें नहीं लेना है जिससे सूत्र अलग करना ही जरूरी था।

(११) सूत्र ३१ में दिगम्बरलोग 'संमूर्च्छनगर्भोपपादा-ज्जन्म' ऐसा सूत्र मानते हैं. पेश्तर तो दिगम्बरोंनें उपपाद-शब्द उपपातके स्थानमें धरा है. इधर ही नहीं, लेकिन आगे भी जहां जहां पर औपपातिक या उपपातशब्द आता है वहां वहां पर भी इन्होंने 'त' के स्थानमें 'द' कर दिया है. लेकिन यह उनका रिवाज अपनी परिभाषाको दिखानेके लिये ही है उनके रिवाजसे तो गतिशब्दके स्थानमें भी 'गदि' शब्द कर देवें तो ताज्जुब नहीं, अस्तु. लेकिन इधर 'उपपादात्' करके पंचमीका एकवचन कैसे लगाया ? इधर गर्भ, संमूर्च्छिम और उपपात इन तीन तरहसे जन्म दिखानेका है तो पीछे एकवचन

कैसे रखा ? सूत्रकार महाराज तो स्थान स्थान पर एकस्थानमें एकवचन दोके स्थानमें द्विवचन और बहुतके स्थानमें बहुवचन स्पष्टपनेसे कहते ही हैं. इधर एकवचनका प्रयोग सिर्फ दिगंबरोंकी कल्पनाका ही फल है. ऐसा नहीं कहना कि 'उपपाता' ऐसा बहुवचन रखनेसे 'जन्म' के स्थानमें भी बहुवचन रखना होगा. ऐसा नहीं कहनेका सबब यह है कि उद्देश्यस्थानमें बहुवचन होने पर भी विधेयके स्थानमें तो 'तत्त्वं' 'न्यासः' 'ज्ञानं' आदिस्थानोंमें दोनोंके पाठोंमें ऐसे एकवचन साफ ही है।

(१२) सूत्र ३३ में दिगम्बरोंके मतसे 'जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः' ऐसा पाठ है, तब श्वेताम्बरोंके मतसे 'जराय्वण्डपोतजानां गर्भः' ऐसा पाठ है, अव्वल तो इधर व्याकरणके नियमसे द्वन्द्वके अन्तमें या आदिमें लगा हुआ पद सबको लग सकता है, तो पीछे जरायु और अण्डकी साथ जनिधातुका बना हुआ 'ज' लगानेकी क्या जरूरत थी ? याने आगेके 'ज' से दोनोंका सम्बन्ध हो जायगा. ऐसा नहीं कहनेका होगा कि इधर तो कृदन्त है. क्योंकि दोनों पद पेश्तर रहें तब भी आगेका जनिधातुसे प्रत्यय आकर ज बननेमें हर्ज नहीं होगा. आश्चर्यकी बात तो यह है कि जरायु और अण्डके आगे तो जनधातुसे बना हुआ 'ज' लगाया, और पोतके आगे तो वह भी नहीं लगाया. पोतशब्दका अर्थ पोतज हो जायगा

ऐसा नहीं है पोतजका अर्थ यह है कि वस्त्रकी तरह साफपनसे जन्म पावे. न तो जिसके चारों ओर जरायु होवे, और न जो अण्डसे जन्म पावे, वैसे हाथीके बच्चे आदिकी तरह जन्म पानेवालेको पोतज कहा जाता है. पोतशब्दका अर्थ बच्चा कहा जाय तो क्या जरायुसे होनेवाले और अण्डसे होनेवाले छोटे होवें वे बच्चे नहीं कहे जायेंगे ? जब वे भी पोत याने बच्चे कहे जायँ तो फिर पोतशब्द कहना ही व्यर्थ है, और तीसरी तरहका जन्म तो रह ही जायगा, इससे लाघवके हिसाबसे और यथास्थितपदार्थके निरूपणमें 'जराय्वण्डपोतजानां' ऐसा ही पाठ कहना लाजिम है।

(१३) सूत्र ३४ में दिगम्बर 'देवनारकाणामुपपादः' ऐसा सूत्र मानते हैं, और श्वेताम्बर 'नारकदेवानामुपपातः' ऐसा सूत्र मानते हैं. इसमें नारकोंको प्रथम कहनेका कारण प्रथम अध्यायके 'भवप्रत्ययो०' इस सूत्रकी तरह और उपपाद व उपपातके लिये इसी ही अध्यायके ३१ वें 'संमूर्च्छनगर्भोपपादा' सूत्रकी तरहसे समझना।

(१४) सूत्र ३७ में दिगम्बर लोग 'परं परं सूक्ष्मं' ऐसा सूत्र मानते हैं, और श्वेताम्बर 'तेषां परं परं सूक्ष्मं' ऐसा सूत्र मानते हैं. दोनोंके भी मतसे इस सूत्रके पेश्तर 'औदारिक० शरीराणि' यह सूत्र है. अब इधर दोनोंके ही हिसाबसे निर्धारणको दिखानेके लिये विभक्ति तो चाहियेगी। शास्त्रकार महाराज

तो जहां भी षष्ठी सप्तमी विभक्तिवाला पद करनेकी जरूर देखते हैं वहां पर स्पष्ट वह कह देते हैं, जैसे 'तद्विशेषः' 'तद्योनयः' इस तरह इधर भी निर्धारणके लिये 'तेषां' पद लेना ही होगा, और 'तेषां' ऐसा पद लेंगे तभी तो उन औदारिकादिशरीरोंमें आगे आगेका शरीर बारीक याने अल्पस्थानमें रहनेवाला ऐसा अर्थ होगा. अन्यथा पेश्तरके सूत्रमें रहा हुआ 'शरीराणि' पदका इधर लगना कैसे होगा ?

(१५) सूत्र ४२ में दिगम्बरोंने 'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः' ऐसा पाठ माना है, और श्वेताम्बरोंने 'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः' ऐसा पाठ माना है. यद्यपि प्रथमाध्यायमें ऐसा ज्ञानके विकल्पोंको दिखानेवाला सप्तमीवाला सूत्र है, लेकिन वहां तो दोनोंके सूत्रपाठ समान है, याने दोनों सप्तम्यन्त ही मानते हैं. इधर दोनोंमें परस्पर पाठभेद है इधर सोचनेका यह है कि वहां पर तो ज्ञान गुण था और गुणी आत्मा था. गुण होवे वह गुणीमें रहे, और शास्त्रकारने भी 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः' ऐसा स्पष्ट कहा भी है. इससे वहां पर प्रथमाध्यायमें तो सप्तमीसे निर्देश करना लाजिमही है, लेकिन जिस जगह शरीर और शरीरिका सम्बन्ध दिखाना है वहां पर सप्तमी धरना कैसे मुनासिब होगा ? दूसरा यह भी सोचनेका है कि शरीरमें जीव है कि जीवमें शरीर है ? यदिकहा जाय कि शरीर अकेलाभी पीछे ठहरता है और देखने-

आदिके व्यवहारमें भी शरीर ही आता है, इससे शरीरमें जीवका रहना योग्य गिना जाय, तो फिर एकजीवमें चार तक शरीर हो सकता है, यह कहना कैसे बनेगा ?, इससे साफ है कि स्व-स्वामिभावको दिखानेवाली षष्ठी विभक्ति ही इधर चाहिये ।

(१६) इसी अध्यायके सूत्र ४६ में दिगम्बर 'औपपादिकं वैक्रियं' ऐसा पाठ मानते हैं. और श्वेताम्बर 'वैक्रियमौपपातिकं' ऐसा पाठ मानते हैं. इधर दिगम्बरोंका कहना है कि औपपादिक और औपपातिकके लिये तो ठीक ही है कि हमने त के स्थानमें द कर दिया, लेकिन 'वैक्रिय' शब्दका स्थान तो तुमनें ही पलटाया है. हमारा यह कहना इससे लाजिम होगा कि सूत्रकारमहाराजनें औदारिकशरीरके विषयमें 'गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यं' कहकर शरीरका आखिरमें कथन किया, आगे आहारकके अधिकारमें भी 'शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं' जो सूत्र है वहां पर भी आहारकका नाम पीछे ही कहा है. इससे साफ मालूम होता है कि इधर भी सूत्रकारमहाराजने तो 'औपपादिकं वैक्रियं' ऐसा ही कहा था, लेकिन श्वेताम्बरोंने इनको पलट कर 'वैक्रियमौपपातिकं' ऐसा बना दिया. इस स्थानमें श्वेताम्बरोंका कथन यह है कि सूत्रकारमहाराजने 'वैक्रियमौपपातिकं' ऐसा ही सूत्र बनाया है. हमने कुछ भी पलटाया नहीं है, और युक्तियुक्त भी यही पाठक्रम है. इसका सबब यह है कि औदारिक और आहारकशरीरके सूत्र स्वतंत्र हैं,

याने उनमेंसे किसीकी अनुवृत्ति आगेके सूत्रमें करनेकी नहीं है, लेकिन इधर तो वैक्रियशब्दकी अनुवृत्ति आगेके 'लब्धिप्रत्ययं च' इस सूत्रमें करनेकी है, और सूत्रकारकी शैली ऐसी है कि विधेयकी अनुवृत्तिमें विधेय शब्दको आखिरमें कहना और आगे तत्शब्दसे परामर्श करना. जैसे 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' 'तत्प्रमाणे' 'स आश्रवः' 'स बन्धः' इन सब सूत्रोंमें जब पेश्तरके सूत्रोंका सम्यग्दर्शन ज्ञान योग और कर्म स्वीकार रूप विधेयकी अनुवृत्ति करनी थी तो उसको आखिरमें कथन करके पीछेके सूत्रमें तत्शब्द लिया, इसी तरहसे इधर भी 'वैक्रिय' को विधेयमें रक्खें तो 'लब्धिप्रत्ययं च' वहाँ पर अनुवृत्ति लानेके लिये अंत्यमें उच्चारणरूप प्रयत्न करना पडे. इससे इधर वैक्रियका उद्देश्यपना अंत्योच्चारणसे रख दिया. जिससे आगे अनुवृत्ति चली आवे, ऐसा नहीं करे तो 'लब्धिप्रत्ययं च' और 'तैजसमपि' इन दोनों ही सूत्रोंमें विपर्यास करना होवे.

(१७.) सूत्र ४९ में दिगम्बर आहारकशरीरके अधिकारमें '० प्रमत्तसंयतस्यैव' ऐसा मानते हैं. तब श्वेताम्बर '० चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' ऐसा पाठ मानते हैं. दोनों मजहबवाले यह बात तो मंजूर करते ही हैं कि यह आहारकशरीर चौदहपूर्वको धारण करनेवाले ही करते हैं, और आहारक करते वक्त आहारकशरीर करनेवाले प्रमत्त ही संयत होते हैं. जब ऐसा

दोनोंका भी मन्तव्य है तो फिर यह उलटपलट क्यों हुई ? दिगम्बर और श्वेताम्बर सब ही ऐसा मानते ही हैं कि सब प्रमत्तसंयत आहारकशरीरको नहीं करते हैं. जब सब प्रमत्त साधु आहारक न कर सके तो पीछे 'प्रमत्तसंयतस्यैव' ऐसा कहना फिजूल ही है. दिगम्बरोंकी ओरसे कभी ऐसा कहा जाय कि 'प्रमत्तसंयतस्यैव' यह कहनेकी मतलब यह है कि अप्रमत्तसंयत होवे वे आहारकवाले न होवे, ऐसा कभी दिगम्बरोंका कहना होवे तो वह भी फिजूल है. सबब कि अप्रमत्तगुणठाणा आहारकशरीरवालेको भी होता है. यदि कहा जाय कि आहारकशरीर जिस वक्त बनावे उस वक्त अप्रमत्तपना नहीं होता है, किंतु आहारकशरीर बनजाने के बाद अप्रमत्तपना हो सकता है, तो इधर यह बात जरूर सोचनेकी है कि क्या अप्रमत्तपना हुआ उस वक्त उसके आहारकशरीरको आहारकशरीर नहीं गिना है?, गिना है तो फिर 'प्रमत्तसंयतस्यैव' याने प्रमत्तसंयतकोही आहारकशरीर होता है यह कहना कैसे लाजिम होगा? याने न तो सब प्रमत्तको आहारक होता है और न सब आहारकशरीरवाले प्रमत्तही होते हैं. लेकिन पूर्वधरपनेमें तो नियम ही है कि जो चतुर्दशपूर्वको धारण करनेवाला हो वही आहारक करता है. अब साफ होगया कि श्वेताम्बरोंका माना हुआ 'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' यही पाठ सत्य है, और 'प्रमत्तसंयतस्यैव' ऐसा दिगम्बरोंका कहा हुआ पाठ असत्य और कल्पित है.

(१८) तीसरे अध्यायमें प्रथमसूत्रमें दिगम्बर लोग 'रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः' इतनाही पाठ मानते हैं, और श्वेतांबर लोग इसके आगे 'पृथुतराः' इतना ज्यादा मानते हैं. दोनोंके मतसे एक एक पृथ्वीसे आगे आगेकी पृथ्वी चौडी है तो पीछे इधर 'पृथुतराः' पद नहीं मानना यह दिगम्बरोंको लाजिम नहीं है, और यदि 'पृथुतराः' नहीं लेवे तो 'अधोऽधः' की जरूरतही क्या थी?, कभी ऐसा कहा जाय कि पृथ्वीका अनुक्रम दिखानेके लिये 'अधोऽधः' कहने की जरूरत है तो यह कहना भी फिजूलही है. क्योंकि 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' कहनेसे ही 'अधोऽधः' का भावार्थ आजाता है, तो इससे स्पष्ट है कि सूत्रकारने 'अधोऽधः' ये पद कहे थे, और उससे नीचेकी पृथ्वी ज्यादा ज्यादा विस्तारवाली यह सिद्ध करनेकी जरूर होगी, इससे पृथुतराः पद सूत्रकारने कहाही है.

(१९) तीसरे अध्यायके दूसरे सूत्रमें दिगम्बर 'तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमं' ऐसा सूत्र मानते हैं. तब श्वेतांबर 'तासु नरकाः' इतनाही सूत्र मानते हैं. अक्लमंद आदमी इस सूत्रको देखतेही कह सकेगा कि यह सूत्रकी कृतिही श्रीउमास्वातिवाचकजीकी नहीं है, किन्तु दिगम्बरोंने ही घुसेड २ कर सूत्र

बिगाड दिया है. क्योंकि अव्वल तो संग्रहकारकके वचनमें इतना विस्तार ही असंगत है. और यदि सूत्रकारमहाराजकी ही कृति होती तो ऊपर और नीचे हजार योजन जो हरएक पृथ्वीमें वर्जनेका है वह बात क्यों नहीं कहते ? दूसरा यह भी है कि लक्षशब्दको छोडकर शतसहस्र जैसा बडा शब्द क्यों डालें ? यदि नारकके लिये नरकावासकी संख्या कहें तो फिर सौधर्मादिकदेवलोकमें विमानोंकी संख्या और भवन-पतिआदिके भवनकी संख्या सूर्यचन्द्रका प्रमाण आदि क्यों न कहें ? तत्त्वार्थकार जैसे अकलमंद आचार्य क्या ऐसा नहीं कह सक्ते हैं के जिससे विधेयपद मुख्य होवे और पंचकी संख्याको भी अलग न करना पडे, ऐसा नहीं कहना के ऐसा हो सकता ही नहीं देखिये इस तरहसे होवे के 'तासु त्रिंश-त्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकलक्षपंचनरकाः' ? अकलमंद सोच सक्ते हैं के यह चवशब्द ही कह रहा है के यह दिगंबरोंका कर्तुत है, और 'यथाक्रमं' यह शब्द भी बिन जरूरी है, यदि समानसंख्या होनेपर भी यथाक्रमंशब्दकी जरूरत होवे तो 'तेष्वेके' इत्यादि जो नरककी स्थितिवाला सूत्र है वहां 'यथाक्रमं' शब्द क्यों नहीं ?, सूत्रकार महाराजकी (२-१) सूत्र जो भावोंका उद्देशरूप है वहां या 'पंचनव०' ऐसा कर्मके भेदोंका उद्देशरूप सूत्र है वहांही यथाक्रम शब्द लगाते है और इधर वैसा उद्देश और निर्देश अलग है ही नहीं, ऐसी अवस्थामें

यथाक्रमं शब्द लगादेना यह भवभयकी रहितता दिखानेकी साथ घुसेडने वालेकी वालिशताही दिखाता है. इससे साफ होगया के यह दिगंबरोंका कल्पितही सूत्र है. दिगंबरोंने यह कल्पित बनाया है और श्वेतांबरोंने माना हूवा सूत्र व्याजवी है, इसकी स्पष्ट सबुत मोजुद है, वो यह है के दोनुं मजहबवाले आगेका सूत्र ६ ठ्ठा इस तरहसे मानते हैं 'तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः' इस तरहका सूत्र जब दोनुके मतसे मंजूर है तो पीछे उधर 'तेषु' शब्दसे किसकी अनुवृत्ति करेंगे. श्वेतांबरोंने तो 'तासु नारकाः' ऐसा सूत्र मान लिया है, इससे उनको तो सातोही भूमिमें रहे हुवे सातही तरहकी नरकोमें अनुक्रमसे आयुष्य आ जायगा, लेकिन् दिगंबरोंने तो लक्खो नरकावास लिये इससे सात स्थितिओंका संबंध कहां दिखाएंगे?, इतना ही नहीं, किन्तु छ नरकके नरका-वास तो एकसमाससे कहे है और सप्तमीका नरकावासभी अलग कहा है, इससे भी सात स्थितिओंका सम्बन्ध कैसे लगाया जायगा ?, इधर इतना सोचना जरूरी है कि सूत्रकारकी शैली है कि समासके अलगपनेसे स्थितिका सम्बन्ध अलग रखते हैं. और इसीतरहसे देवताओंके अधिकारमें आनतप्राणत, आर-णअच्युत और विजयादिकको एकसमासमें कहे और स्थितिमें नवमे दशवेंमें और ग्यारहवें बारहवेंमें दो दो सागरोपम बढाये हैं. और विजयादिमें एकही बढाया, इस रीतिसे इधर भी समझ

लेंगे तो दिगंबरोंकी चालाकी समझ सकेंगे. इससे यह छः का समास करना और सातवींका नरकावास अलग रखना, यह आगे कहनेमें आयगी उस स्थितिके सम्बन्ध से विरुद्ध ही है सबसे ज्यादा तो यह है कि 'नरकाः' या 'नरकावासाः' ऐसा कोई भी पद इधर स्वतंत्र नहीं है कि जिसका सम्बन्ध 'तेषु' इस पदके साथ किया जाय. श्वेताम्बर तो 'तासु नरकाः' ऐसा सूत्र मानते हैं, इससे 'तेषु' के स्थानमें स्वतंत्र नरकशब्द लगा कर सातका सम्बन्ध कर सकेंगे.

(२०) इसी अध्यायके तीसरे सूत्रमें श्वेताम्बरोंकी मान्यतासे 'नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः' ऐसा सूत्रपाठ है. जब दिगम्बरोंके मतसे 'नारका नित्याशुभतर०' पाठ माना है. अब इस स्थानमें सोचिए कि पेश्तर दूसरे सूत्रमें नरकावासका सूत्र बनाया है तो इधर 'नारकाः' इस पदका सम्बन्ध कैसे लगाया? याने दिगम्बरोंके हिसाबसे भी 'तेषु' या 'तत्र' ऐसा कोई पद होना जरूरी था. इससे मालूम होता है कि श्वेताम्बरोंका जो दूसरा सूत्र 'तासु नरकाः' ऐसा था उसमें किसीने टिप्पणकी तरहसे नरकावासोंकी संख्या लिखी हुई होगी, वह इन दिगम्बरोंने मूलसूत्रमें मिला दी, और नरकावासकी संख्याको मिलादेनेसे 'नरकाः' यह पद वहां फाजल हुआ उसको इधर तीसरे सूत्रमें मिलाया. ऐसा न कहना कि इसमें क्या हर्ज है? क्योंकि असल तो

इधर ' नरकाः ' पद श्वेताम्बरोंके हिसाबसे दूसरे सूत्रमें 'तासु' पदकी साथ लगा हुआ था, और इधर नरकावासकी संख्या बीचमें डालकर जो ' नारकाः ' पद डाला है वह असम्बद्ध हो गया है. इसके लिये 'तेपु' या 'तत्र' पद लगानेकी जरूरत है. इसके आगेके सूत्रमें भी 'तेप्वेक०' इत्यादि सूत्रकी जगह पर भी 'तेपु' यह पद सामान्यभूमिभेदसे नारकोंको नहीं लग सकेगा. क्योंकि बीचमें नरकावासका सूत्र आकर अब 'नरकाः' सामान्यनारकोंका वाचक हो जायगा. बादमें 'तेपु' कहकर भूमिभेदसे नारकोंकी स्थिति बताना असंबद्ध होगा. इससे साफ मालूम होता है कि दिगम्बरोंने अपनी कल्पनासे ही नरकावासका भार इधर डालदिया और 'नारकाः' शब्द सम्बन्ध लगाये बिनाही इधर तीसरे सूत्रमें डाल दिया है.

(२१) इसी तीसरे अध्यायमें सूत्रदशवेमें दिगम्बर लोग 'भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि' ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं. तब श्वेताम्बर लोग 'तत्र भरतहेमवत' इत्यादि सूत्र पाठ मानते हैं. अब इस जगह पर दिगम्बरोंने 'तत्र' शब्द उडा दिया, लेकिन् ये भरतादिक्षेत्रोंका स्थान कहां मानेगे ?, क्योंकि तिर्यग्लोकमें सब द्वीपसमुद्रको दिखाकर उनका आकार आदि दिखाये, बादमें ९ वें सूत्रमें 'तत्' शब्दसे सब द्वीपसमुद्रका परामर्श करके बीचमें जम्बूद्वीप दिखाया है; अब इस जम्बूद्वीपमें इन भरतादिकको

दिखानेके लिये परामर्श करनेवाले पदकी जरूरत थी. लेकिन इन दिगम्बरोंने वह परामर्श करनेवाला पद उडा दिया. कभी ऐसा कहा जाय कि पेश्तर जंबूद्वीपका अधिकार होनेसे उसकी अनुवृत्ति हो जायगी, और अन्वय लगानेके लिये सप्तमी लगाकर तत्र ऐसा ले लेंगे. यह कहना व्यर्थही है, क्योंकि अव्वल तो सूत्रकारकी यह शैली ही नहीं है, और ऐसा ही मान लें तो इधर तो सप्तम्यन्तका कोई भी सूचक पद नहीं है. लेकिन आगेके सूत्रमें 'तद्विभाजिनः०' इस सूत्रमें परामर्श करनेकी कोई जरूरत नहीं थी. इससे साफ है कि इधर 'तत्र' पद होना ही चाहिये. दिगम्बरोंकी ओरसे कभी ऐसा कहा जाय कि ये भरतादिक क्षेत्र अकेले जम्बूद्वीपमेंही नहीं लेने हैं. किन्तु धातकीखंड और पुष्करार्धमें भी येही भरतादिक क्षेत्र लेने हैं, इससे इधर 'तत्र' शब्द लेनेकी जरूरत नहीं है. लेकिन यह कहनाभी व्यर्थ है. इसका सबब यह है कि आगे 'द्विर्धातकीखंडे' 'पुष्करार्धे च' ऐसा कहकर वहां पर तो भरतादिकका द्विगुणपना लेना है, इससे यह सूत्र तो जम्बूद्वीपके लिये ही रहेगा, और इधर 'तत्र' ऐसा पद जरूर चाहियेगा. दिगम्बरोंके हिसाबसेभी तो यह सूत्र जंबूद्वीपादि तीनस्थानके लिये रह सकता ही नहीं है. सबब कि इन लोगोंने जो सूत्र बढाये हैं उसमें सब अधिकार जम्बूद्वीपका ही लिया है. यावत् भरतको १९० में भागमें लिया है, वह जम्बूद्वीपके सिवाय नहीं

है. इससे इधर तत्र शब्द जरूर ही लेना पडेगा.

(२२) इसी अध्यायके सूत्र ३६ में दिगम्बरलोग 'आर्या म्लेच्छाश्च' ऐसा पाठ मानते हैं, जब श्वेताम्बर 'आर्या म्लिशश्च' ऐसा पाठ मानते हैं. दिगम्बरोंने इधर स्पष्टता के लियेही 'म्लिशश्च' के स्थानमें 'म्लेच्छाश्च' ऐसा कर दिया है. लेकिन इधर अव्वल यह शोचनेका है के म्लेच्छ और आर्य शब्द परस्पर विपरीत है, लेकिन आर्यशब्द निरुक्तिसे हुवा है और म्लेच्छशब्द म्लेच्छधातुसेही बना है, इससे धातुसे बना हुवा शब्दको प्रधान पद दिया जाय यही यथार्थ है और जब धातुसेही होने वाला म्लेच्छशब्द लेंगे तो कर्त्तामें क्विप् प्रत्यय लगाके म्लिश् ऐसाही शब्द बनाना होगा, और इसकी यह मतलब होगा कि अव्यक्त भाषा बोलने वाले म्लिश् होते है, और जो वैसे नहीं है वे आर्य है, इससे यह भी साफ होगा कि इधर ब्राह्मीलिपि और अर्धमागधीभाषाका जहां जहां प्रचार नहीं वे म्लिश् कहे जाय, और जिहां उनोका प्रचार होगया वे आर्य है. इस हेतुसे इधर म्लिश्शब्दही कहना लाजिम गिना गया है.

(२३) सूत्र ३८ में 'परापरे' ऐसा उत्कृष्ट और जघन्य ऐसी मनुष्य व तिर्यंचकी स्थिति दिखानेका सूत्र था. वहां इन दिगम्बरोंने 'परावरे' ऐसा कर दिया है. क्योंकि शास्त्रकार तो जहां पर भी जघन्यस्थितिका अधिकार लेते हैं वहां

जघन्यस्थितिको अपरा स्थिति कहते हैं. देखिए चौथे अध्यायमें देवताओंकी जघन्यस्थितिमें 'अपरा पल्योपम०' (३३) 'तदष्टभागोऽपरा' ऐसे ही अध्यायआठवेंमें भी 'अपरा द्वादशमुहूर्त्ता' (१८) इन सूत्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि सूत्रकार जघन्यस्थितिको अपरा ही कहते हैं. दूसरी यह भी बात साफ है कि जहां पर उत्कृष्टस्थिति दिखानेकी होती है वहां 'परा' शब्दसे ही व्यवहार करते हैं. जैसा इसी तीसरे अध्यायमें मनुष्यतिर्यंचकी उत्कृष्टस्थितिमें उत्कृष्टस्थिति दिखानेमें इसी सूत्रमें 'परा' का व्यवहार किया है. इसी तरहसे नारकोंकी उत्कृष्टस्थितिका सूत्र जो नं. ६ का है, उसमें पराशब्दसे ही उत्कृष्टस्थिति कही है. अध्यायचौथेमें 'परा पल्योपममधिकं च' (३९) दिगम्बरोंके हिसाबसे भी उत्कृष्टस्थितिमें परापदका ही प्रयोग मान्य है, तो फिर उत्कृष्टसे प्रतिपक्ष ऐसी जघन्यस्थिति दिखानेमें 'अपरा' ऐसाही पदका प्रयोग होवे. लेकिन दिगम्बरोंने अपनी आदत मुजब कुछ भी फर्क डालना चाहिये ऐसा सोच कर इधर 'प' के स्थानमें 'व' करके 'परावर' ऐसा कर डाला है.

(२४) सूत्र नं. ३९ में श्वताम्बरलोग 'तिर्यग्योनीनां च' ऐसा पाठ मानते हैं. इस स्थानमें 'तिर्यग्योनीनां' के पाठकी जगह पर दिगम्बरोंने 'तिर्यग्योनिजानां च' ऐसा टेढा पाठ क्यों किया ?, क्या तिर्यग्योनिशब्दसे तिर्यंचोंका बोध

नहीं होता था ?, यदि दिगम्बरोंका यह मानना हो तो वह निहायत अनुचित है, क्योंकि तिर्यग्योनिशब्दसे तिर्यंच नहीं लेंगे तो पीछे 'तिर्यग्योनिज' शब्द ही तिर्यंचोंके लिये कैसे होगा? असलमें सूत्रकारने तो 'तिर्यग्योनि' ऐसा ही शब्द रक्खा है, देखिए अध्यायचौथेका सूत्र २७ 'औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः' इधर तिर्यंचोंका लक्षण या संज्ञा करते भी 'तिर्यग्योनि' यही शब्द कहा है. इधर सूत्रकारनें 'तिर्यग्योनिजाः' ऐसा दिगम्बरोंका फिराया हुआ पाठ न तो सूत्र में दिया है और न दिगम्बरोंने ऐसा माना है. इसी तरहसे 'माया तैर्यग्योनस्य' इस सूत्रमें तिर्यग्योनिज शब्द तिर्यंचके लिये नहीं माना है. इधरतो आयु दिखानेमें 'तैर्यग्योन' शब्द तद्धितांत है सूत्रकार महाराजनें तो तिर्यग्योनिशब्दसेंही तिर्यंच लिये है, और केवल अपनीआदतसे अन्यथा कह कर तिर्यंचोंका आयुष्य दिखाया हैं इससे साफ होता हैं कि दिगम्बरोंने ही यह पाठ विगाडा है.

(२५) अध्यायचौथेमें दिगम्बर 'आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः' ऐसा सूत्र मानते हैं. तब श्वेताम्बर 'तृतीयः पीतलेश्यः' ऐसा सूत्र मानते हैं. इस विषयकी समालोचना सूत्रकी अधिकताके विषयमें होगई है. सबब यह बात वहां ही से समझ लेना उचित है. दूसरा यह है कि यदि सूत्रकारका ही किया हुआ ऐसा सूत्र होता तो ऐसा अस्तोव्यस्त सूत्र कभी

भी नहीं होता. क्योंकि तीन निकायके देवोंकी लेश्या कहनी होती तो 'पीतान्तलेश्याः' इतनाही सूत्र करते, और वैमानिककी लेश्याका तो आगे ही अपवाद है. दूसरा यह भी है कि 'पीतान्त-लेश्याः' ऐसा बहुव्रीहिकी छायावाला पद ही नहीं रखते. किन्तु 'पीतान्ता लेश्याः' ऐसा साफ कहते, तीसरा यह भी है कि 'आदितः' ऐसे तस्प्रत्ययांतकी क्या जरूरत है. 'आदि-त्रिके' इतना कहते, या 'त्रिषु' इतना ही कहते ऐसा नहीं कहना कि आगे कर्मस्थितिके अधिकारमें सूत्रकारमहाराजने ही 'आदितस्तिसृणां०'ऐसा सूत्र करके कहा है,जिससे इधर'आदितः' कहना क्या बुरा है ?, ऐसा न कहनेका सबब यह है कि वहां पेश्तरका सूत्र अन्तरायकर्मकी दानादि उत्तर प्रकृतिको कहता है. और वहां पर 'आदितः' पद न लगाया होता तो दानादि-तीनप्रकृतिकी स्थिति हो जाती. लेकिन ज्ञानावरणीयादि तीन मूलप्रकृतिका तो प्रसंग ही नहीं था, सबब वहां पर आदितः ऐसा पद देनेकी जरूरत थी. अव्वल तो आदिशब्दकी ही इधर जरूरत नहीं थी. क्योंकि आगे वैमानिकके अपवाद शिवाय भी प्रथमोपस्थित तीनही भेद आ सकते थे.

(२६) चौथे अध्यायके ४ थे सूत्रमें दिगम्बर लोग 'त्रायस्त्रिंशत्' ऐसा पाठ त्रायस्त्रिंशदेवताके लिये मानते हैं और श्वेताम्बरलोग 'त्रायस्त्रिंश' ऐसा पाठ मानते हैं, तेंतीस देवता जिसमें होते हैं वैसको 'त्रायस्त्रिंश' नामके देव कहते हैं.

वैसी जगह यह नाम होनेसे ड प्रत्यय आनेकी जरूरत है यह बात व्याकरणके जानकारोंसे छिपी हुई नहीं है.

(२७) इसी तरहसे इन दिगम्बरोंने पारिषद्य नामके देवताओंके लिये 'परिषद्' ऐसा पद कहा है, यह भी शोचनीय है.

(२८) इस चौथे अध्यायके १९ वें सूत्रमें तो दिगम्बरोंने बडा ही जुल्म कर दिया है, श्वेताम्बरलोग इस सूत्रका पाठ ' सौधर्मैशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ' इस तरहसे मानते हैं. तब दिगम्बर लोग इस सूत्रमें ब्रह्मके आगे ब्रह्मोत्तर लान्तव(क) के आगे कापिष्ट और शुक्र फिर महाशुक्रके आगे शतार, इस तरहसे चार देवलोक ज्यादह मानते हैं असलमें यह सूत्र श्वेताम्बराचार्यका किया हुआ था, इससे इधर कल्पोपपन्न बारह ही देवलोक गिनाये थे. लेकिन् दिगम्बरोंने अपनी मान्यता मुजब सोलह कल्पोपपन्न देवलोक बना दिये, ये देवलोक असल आचार्यके पाठमें नहीं थे. इसका सबूत इसी अध्यायमें दिगम्बरोंकी मान्यता मुजब भी साफ साफ है. देखिए, पेश्तर तो देवताओंके भेद दिखाये हैं. जिसमें ही 'दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः' इस सूत्रसे कल्पोपपन्नके बारह भेद दिखाये हैं, और ग्रैवेयकविमानसे पेश्तरके देवलोक कल्पोपपन्न हैं, यह तो 'प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः' ऐसा जो इसी अध्यायका

२३ वां सूत्र दिगम्बरोंने भी माना है, इससे स्पष्ट है, तो फिर खुद सूत्रकारने ही बारह भेदका उद्देश किया तो पीछे निर्देशमें सोलहभेद कहांसे कहा जाय ?, दूसरा यह भी है कि ईशानदेवलोक तकके देवता तो कायसे मैथुनसेवाके प्रविचारवाले हैं और आगे स्पर्श रूप शब्द और मनसे प्रविचार करने वाले हैं. यद्यपि इधर श्वेताम्बरलोग तो दो दोमें स्पर्शादिकका प्रविचार मानते हैं. और सूत्रकारने भी 'द्वयोर्द्वयोः' ऐसा कहकर ३-४ में स्पर्श५-६ में रूप७-८ में शब्द९-१०-११-१२ में मन, इस तरहसे प्रविचारके लिये स्थिति मानीही हैं. यहां दिगम्बरके हिसाबसे पेश्तर स्पर्शके विषयमें तो दो देवलोक रहेंगे; बाद रूप शब्द और मन इन तीनोंमें भी चार चार देवलोक लेने होंगे. सूत्रकारको यह कैसे इष्ट होवे ?, क्यों कि एकमें दो और तीनमें चार चार देवलोक लेना होवे और कुछ भी संख्याका निर्देश न करे, दिगम्बरोंके हिसाबसे तो सूत्रकारको 'द्विचतुश्चतुर्द्विकेषु' ऐसा कहना ज़रूरी था. ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि आखिरके मनःप्रविचारमें तो वैसा चार देवलोक तो श्वेतांबरोंको लेनाही है तो मनके विषयकी तरह इधर तीनमें भी चार चार देवलोक मानना क्या बुरा है? यह शंका नहीं करनेका सबब यह है कि सूत्रकारमहाराजने ही 'आणतप्राणत' को और 'आरण अच्युत' को इकट्ठे गिने हैं. और इससे ही खुद सूत्रकारनेही 'आणतप्राणतयोः' और 'आरणाच्युतयोः' ऐसा अलग अलग और एकत्र समास कर दिखाया है. इतनाही

नहीं, किन्तु 'आरणाच्युतादूर्ध्वं०' इस ३२ वें सूत्रमें खुद आचार्य-महाराजने ही आरणाच्युतका इकट्ठापना दिखाया है इससे आनत और प्राणतको आरण और अच्युतको तो दो गिनना सूत्रकारके वचनसे है. लेकिन् रूप और शब्दके विषयमें चार २ देवलोक लेना यह तो सूत्रकारके द्वयोर्द्वयोः वचनोंसे खिलाफ ही है. आगे पर और सोचनेका जरुरी है कि दिगम्बरोंके हिसाबसे माहेन्द्रदेवलोककी स्थितिके सूत्र के बाद 'त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु' इस स्थितिके सूत्रमें ७-३=१०, ७-७=१४, ७-९=१६, ७-११=१८, ७-१३=२०, ७-१५=२२ इस तरहसे छ ही देवलोककी स्थिति दिखाई है, और आगेके सूत्रमें ग्रैवेयकादिकी स्थिति दिखाई है. इधर श्वेताम्बरोंके हिसाबसे सूत्रके आदिमें 'विशेष' शब्द माहेन्द्रकी स्थितिके लिये है. बाद ५-६-७-८ ये चार देवलोक स्वतंत्र और ९-१० का एक बाद ११--१२ का एक, इस तरहसे छः स्थान हो जाते हैं, लेकिन दिगम्बरोंके हिसाबसे तो इधर स्थितिके क्रमको देवलोककी संख्याके साथ मिलानेका रास्ता ही नहीं है. इन सब सबबोंसे साफ हो जाता है कि दिगम्बरोंने अपनी मन्तव्यता घुसेडकर इस सूत्रको साफ बिगाड दिया है.

(२९) सूत्र २८ वें दिगम्बरोंने 'स्थितिरसुरनागसुवर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः' ऐसा सूत्र माना है. अकलमन्द आदमी इस सूत्रको देखतेही कह सकते

हैं कि यह सूत्र साफ झूठा है. क्योंकि असल तो इधर श्वेताम्बरोंके हिसाबसे तो आगेसे स्थितिका और भवनवासिका अधिकार चला आता है. लेकिन् दिगम्बरोंने ये 'स्थितिः' और 'भवनेषु' वाले सूत्र नहीं माने हैं. तो इधर शेषशब्दसे किसको लेना उसका ही पता नहीं है. दक्षिण और उत्तरके इन्द्रोंका वैमानिकमें तो आयुष्यभेद सूत्रसे दिखाया और इधर नहीं दिखाया. इधर पांचका उद्देश्य है और विधेयमें सिर्फ तीन ही हैं. और मान लिया जाय कि दोके शिवायको अर्ध-अर्धहीन कहना तो इसके लिये अव्वल तो अर्धशब्दको दो वार कहना चाहिये, लेकिन यह तो कहा ही नहीं. इतना ही नहीं, लेकिन इधर 'मिताः' शब्दस्थितिकी साथ लगाना यह भी अयोग्य है. और 'मिताः' का विशेष्य ही कोई नहीं कहा है. अक्कलमन्द प्रक्षेप भी करता तो 'अर्धार्धहीनपल्योपमा' ऐसा सीधा सूत्र बनाता, असलमें तो 'मिताः' शब्द ही फिजूल है. क्योंकि इधर किसी भी स्थितिके सूत्रमें 'मिताः' शब्द न तो लगाया है और न लगानेकी आवश्यकता है. दक्षिण और उत्तरके नागकुमारादिककी स्थितिमें भी इधर फर्क नहीं दिखाया है. इन सबबोंसे साफ हो जाता है कि दिगम्बरोंने इधर भी सूत्रोंका पूरा घोटाला कर दिया है।

(३०) इसी चौथे अध्यायके सूत्र २९ में दिगम्बर लोक 'सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके' ऐसा पाठ मानते हैं. यह

पाठ भी सूत्रकारकी शैलीसे विरुद्ध है, अव्वल तो यह सोचिये कि दोनों देवलोकमें स्थिति अलग २ दिखाते हैं या एक ही स्थिति दिखाते हैं ? यदि मान लिया के अलग अलग स्थिति दिखानेकी हैं याने सौधर्म देवलोककी अलग और ईशान-देवलोककी भी अलग दिखानी है. तो दोनुंका समुच्चय करनेके लिए 'चकार' दाखल करना ही चाहिये, सूत्रकार हरेक स्थान पर समुच्चयके स्थानमें चकार लगाते ही हैं. यदि कहा जायके दोनों देवलोककी स्थिति साथही कहनी है तो पीछे 'अधिके' ऐसा कह नहीं सक्ते हैं, किन्तु 'साधिके' ऐसा ही कहना होगा, दुसरी बात यह भी है के आगेही 'स्थितिप्रभाव०' इस सूत्रमें साफ साफ कहा है के हरेक देवलोकमें पेस्तर पेस्तरके देवलोककी अपेक्षासे ज्यादा स्थिति लेनी, तो इधर प्रथम और दुसरे देवलोकमें स्थिति सरखी कैसे होवे ?। इसी तरहसे आगे सूत्र ३३ में भी दिगम्बरोंने 'अपरा पल्योपममधिकं' ऐसा चकार लगाये विना ही पाठ माना है, तो उससे अपरा याने जघन्यस्थितिमें भी दोनुं देवलोकमें फरक नहीं रहेगा. और फरक नहीं रहनेसे 'स्थिति०' आदि सूत्र झूठा हो जायगा, यदि वहां जघन्यस्थितिमें प्रथम देवलोकमें एक पल्योपम और दुसरे देवलोकमें पल्योपम अधिक स्थिति माननी होवें, तो वहां भी चकार लगाना ही चाहिये, श्वेताम्बरोंने तो इधर 'सौधर्मादिषु यथाक्रमं' ऐसा अधिकार सूत्र माना है;

और 'सागरोपमे' 'अधिके च' ऐसे अलग अलग सूत्र माने है. जिससे न तो उनको अधिक स्थिति लेनेमें हरज है, और न 'सौधर्मैशानयोः' ऐसा माननेकी जरुर है, इसी तरहसे 'स्थितिः' ऐसा अधिकारसूत्र स्थितिवाचक माना है, और आगे भवनपतिमें दक्षिण और उत्तरइन्द्रोंकी स्थितिके लिए और शेष वहांके देवोंकी स्थितिके लिए स्थितिका अलग अलग सूत्र दिखाया है इससे साफ हो जायगा के श्वेताम्बरोका ही पाठ सच्चा है.

(३१) इसी अध्यायमें सूत्र ३० में दिगम्बरलोक 'सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त' ऐसा पाठ मानते है. अब इस स्थानमें अवल तो अधिकार सूत्र माना होता तो 'सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः' ऐसा नहीं कहना पडता, और कहने परभी दोनों देवलोककी स्थिति सरखी हो जाती है. और इसीसे ही 'स्थितिप्रभाव०' यह सूत्र विरुद्ध हो जाता है. इधर दुसरा भी विरोध आयगा. वो विरोध यह है के सौधर्म और ईशान-देवलोककी जघन्य स्थिति दिखा करके शास्त्रकार महाराज फरमावेंगे के 'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा' याने दुसरे देवलोकसे आगे पेस्तर पेस्तर देवलोककी उत्कृष्ट स्थिति होवे वो आगे आगे देवलोकमें जघन्यस्थिति समजनी. अब इधर तिसरा और चौथा देवलोककी एक सरखी मान ली तो पीछे चौथा-देवलोकमें जघन्यस्थिति कहां से लायेंगे ?, तिसरा और चौथा देवलोककी स्थिति सरखी होनेसे इधर ही तीसरे देवलोकमें

निश्चय नहीं होगा. सबब के प्रथम दूसरे देवलोककी स्थिति एक सरखी बताइ है. दुसरे देवलोक की कोई अलग उत्कृष्ट स्थिति दिखाइ नहीं है के जिसको इधर तीसरे देवलोकमें जघन्यस्थितिके रूपमें माने. यदि मान लिया जाय कि इधर उत्कृष्टस्थितिके सूत्रमें 'सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके' ऐसा कहा है, लेकिन जघन्यस्थितिके सूत्रमें 'सौधर्मे-शानयोः' ऐसा पद देकर जघन्यस्थिति नहीं कही है. इससे वहां पर जघन्यस्थिति 'अपरा पल्योपममधिकं' इस सूत्रसे सिर्फ सौधर्मदेवलोककी जघन्यस्थिति मानेंगे. अव्वल तो इधर सौधर्म ईशान दो देवलोक लेना इसका आपको निश्चय होना ही कठिन है. सबब कि आपने 'सौधर्मादिषु यथाक्रमं' यह अधिकार सूत्र तो नहीं माना है. दूसरा इधर एक या दो देवलोक लेना उसके लिये कोई पद नहीं हैं. इतना होने पर भी यह विरोध हो जायगा कि ईशानदेवलोकमें आपको जघन्य-स्थिति कौन माननी यह मुश्किल हो जायगा सबब कि सौधर्मदेवलोककी उत्कृष्ट स्थिति दो या साधिक दो सागरो-पम है, और वहीं इशानमें जघन्यस्थिति माननी होगी. इसका मतलब यह हो जायगा कि ईशानमें जघन्यस्थिति दो सागरोपम या साधिक दो सागरोपम माननी होगी. इससे यह बडा हर्ज होगा कि यदि इधर ही दूसरे देवलोकसे पेश्तरकी उत्कृष्ट-स्थितिका जघन्यस्थितिपणा दिखाना होता तो आगे नरकके

सूत्रमें 'द्वितीयादिषु' ऐसा पद कहा है, वही पद इधर कहनेकी जरूरत होती. याने ऐसा सूत्र कहना होता कि 'द्वितीयादिषु परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा' 'नारकाणां च' लेकिन ऐसा सूत्र नहीं कहा, यही स्पष्ट दिखा रहा है कि सूत्रकारमहाराजको यह जघन्यस्थितिका सूत्र देवलोकमें दूसरे आदिसे लगाना नहीं है. इससे साफ हो गया कि दिगम्बरोंका माना हुआ पाठ असल आचार्यजीका बनाया हुआ नहीं है. इससे यह भी साफ होगया कि आगे भी 'सागरोपमे' 'अधिके च' यह सूत्र तीसरे चौथे देवलोककी जघन्यस्थितिके थे. वे भी दिगम्बरोंने उडा दिए हैं. इस स्थानमें यह शंका जरूर होगी कि यदि 'सौधर्मादिषु यथाक्रमं' ऐसा अधिकार सूत्र ही श्वेताम्बरोंने माना है तो फिर 'सप्त सनत्कुमारे' ऐसा सूत्र बनानेकी क्या जरूरत थी?, क्योंकि पेश्तर दो देवलोककी स्थिति आगई है, इससे यह तीसरी स्थिति तीसरा देवलोककी है, यह स्पष्ट मालुम होजाता है. लेकिन यह शंका योग्य नहीं है. सबब यह है कि आगेके सूत्रमें 'विशेष' अधिकस्थिति चौथे माहेन्द्रदेवलोकमें दिखानी है तो वहां पर चौथा देवलोक और अधिक सातसागरोपमकी स्थिति ये दोनों बातें स्पष्ट मालूम होजाय, इसीसे इधर यह सूत्र जरूरी है, दूसरा यह भी कारण है कि तीसरा चौथा देवलोक एक वलयमें होने से कोई मनुष्य दोनों देवलोकमें साधिकसागरोपमकी स्थिति न

मान ले, इससे भी सनत्कुमारकी स्थिति अलग दिखाने की जरूरत है. इसीतरहसे आगे भी 'आरणाच्युतादूर्ध्वं०' इस सूत्रमें भी देवलोकका नाम लेने की यह जरूरत है, कारण कि आरणाच्युतको एक साथ गिनना और इसी तरहसे आनतप्राणतको भी समसमासवाले होनेसे एक साथ गिनना यह बात स्पष्ट हो जाय. इसी तरहसे प्रतिग्रैवेयकमें एकेक सागरोपम बढानेके लिये नव ग्रैवेयक ऐसा कहा और सारे विजयादिचारमें एकही बढानेके लिये 'विजयादिषु' ऐसा कहा है. और सर्वार्थसिद्धिमें अजघन्यानुत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम स्थिति है यह दिखानेके लिये उसका भी नाम स्पष्ट कहा है, अन्तमें यह सब व्यवस्था अधिकारसूत्र कहनेसे ही हुइ है, और चौथे आदि देवलोकोंके नाम भी अधिकार सूत्रकी सत्तासे ही कहने नहीं पडे हैं.

(३२) आगे भी इधर चौथे अध्यायमें व्यन्तर और ज्योतिष्कोंके विषयमें जघन्य और उत्कृष्टस्थितिमें सूत्रके पाठ भिन्न भिन्न हैं, लेकिन् उस विषयमें सूत्रकार महाराजका स्वतंत्र ऐसा कोई वचन नहीं है कि जिससे घुसेडने वाले या उडादेनेवालेको पकड सकें. यद्यपि इसी ही सूत्रका भाष्य स्वोपज्ञ होनेसे और इन्हीं आचार्यजीके बनाये हुए और और ग्रन्थोंके आधारसे विपर्यास करनेवालेका निर्णय कर सकते हैं, लेकिन् उसमें अभी अन्य ग्रन्थसे उतरना ठीक नहीं गिनकर इस स्थानमें संकोच ही ठीक है.

(३३) अध्याये पांचवेंमें दिगम्बर लोग 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा १७ वें सूत्रमें पाठ मानते हैं, तब श्वेताम्बरलोग '०त्युपग्रहो०' ऐसा पाठ मानते हैं. इधर समझना इतना ही है कि हरएकका उपकार अलग २ है हरएकके दो उपकार न होनेसे 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन करना मुनासिबही नहीं है. और यदि दोनोंके लिये द्विवचन रखना होवे तो 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' यहां पर भी एकवचनांतही अवगाहकी अनुवृत्तिके लिये कठिनता होगी. वहां पर भी 'अवगाहौ' ऐसा ही करना होगा.

(३४ इसी अध्यायमें २८ वें सूत्रमें श्वेताम्बर लोग 'भेदसंघाताभ्यां चाक्षुपाः' ऐसा पाठ मानते हैं, तब दिगम्बर लोग 'भेदसंघाताभ्यां चाक्षुपः' ऐसा मानते हैं. अब इस स्थानमें यदि प्रेस या शोधककी गलती न होवे तो कहना चाहिये कि श्वेताम्बरोंका माना हुआ ही पाठ योग्य है, और दिगम्बरोंका पाठ अयोग्य ही है. सबब कि पेश्तर सूत्रकारने 'अणवः स्कंधाश्च' ऐसा सूत्र करके बहुवचनान्त ही स्कन्धशब्द रखा है, और दिगम्बरोंने भी 'संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते' ऐसा सूत्र २६ का पाठ माना है. इससे स्कन्धशब्द वहां भी बहुवचनान्तही माना है, तो फिर इधर एकवचनान्त स्कन्धशब्दकी अनुवृत्ति कहांसे आयेगी ? और एकवचनान्तसे क्या फायदा है ? ऐसा नहीं कहना चाहिये कि जैसे 'भेदादणुः'

इस सूत्रमें अणुशब्द एकवचनान्त कर दिया है. इस तरह से इधर स्कन्धशब्द भी एकवचनांत ही होना उचित है ऐसा नहीं कहनेका अव्वल कारण तो यह है कि वहां पर अणुशब्द अनुवृत्तिसे लानेका नहीं है. और इधर तो स्कन्धशब्दकी अनुवृत्ति लानी है, और स्कन्धशब्द पेश्तर ही वहुवचनान्त है. दूसरा यह भी सबब है कि अणुका स्थान एक ही है, और स्कन्धके स्थानभी तो अनन्तानन्त हैं, इससे भी स्कन्धशब्द एकवचनान्त होना ठीक नहीं है, दूसरा वहां अणुशब्दका शास्त्रकारने स्पष्ट उच्चार एकवचनमें किया है इन सब सबबोंको सोचनेसे स्पष्ट हो जायगा कि 'चाक्षुपाः' ऐसे श्वेतांबरोंका मानाहुआ असलशब्दको इन दिगंबरोंनें पलटाया है.

जैसे इन सूत्रोंपर दिगम्बरोंका तत्त्वार्थसूत्र जो निर्णयसागर-प्रेसकी ओरसे छपाहुआ जैननित्यपाठसंग्रहमें है उसके पाठकी अपेक्षासे समीक्षा की है, इसी तरहसे दूसरे भी सूत्रोंका विचार उसी ही किताबसे किया है, यदि दिगम्बरभाइयोंकी मान्यता और तरहकी होवे तो सूचित करें कि जिससे हम असत्याक्षेपसे बच जायँ.

(३५) इसी ही पांचवें अध्यायके ३७ वें सूत्रका पाठ दिगम्बर लोग ऐसा मानते हैं कि 'बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च' याने पुद्गलोंका परस्पर बन्ध होनेमें जो अधिकगुण होता है वह पारिणामिक याने दूसरे को पलटा देता है.

इस स्थान पर श्वेताम्बर लोग 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' ऐसा पाठ मानते हैं, इसका अर्थ यह है कि पुद्गलोंका परस्पर बंध होने पर समगुणसे भी समगुणका पलटा हो जाता है. याने दशगुणकृष्णपुद्गलके साथ दशगुणश्वेतका बंध होवे या दशगुणरक्तके साथ दशगुणसफेदपुद्गलका बंध होवे तो क्रमसे कापोत और गुलाबी परिणाम हो जाता है. यह बात प्रत्यक्षसे भी गम्य है, तो फिर ऐसी बातको दिगम्बरोंने किस अकलमन्दीसे पलटा दी ?, न्यूनगुणकी बाबतमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंमेंसे एकने भी विधान नहीं कहा है. इसका सबब यह है कि दूसरा जो कमगुण होता है तो वह बो बन्ध पानेवाला दूसरा स्कन्ध आपोआप ज्यादहगुणवाला है. और अधिकगुणवालेका परिणाम हो जाय यह तो सूत्रमें साफ कहा ही है.

(३६) सूत्र ३९ में दिगम्बर लोग 'कालश्च' ऐसा सूत्र मानते हैं. तब श्वेताम्बर लोग 'कालश्चेत्येके' ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कथन ऐसा है कि यदि कालद्रव्य स्वाभाविक ही आचार्यश्रीको मान्य होता तो 'द्रव्याणि जीवाश्च' इस स्थानमें ही कह देते. आखिरमें कालके उपकारका 'वर्त्तना परिणाम:०' इत्यादि सूत्र कहा वहां पर भी कहते. और दूसरा यह भी है कि यदि इधर एकीयमतसे कालको द्रव्य नहीं बताना होता और दिगम्बरोंकी मन्तव्यतानुसार ही

स्वतंत्ररीतिसे कालको द्रव्य मानना होता तो 'अनन्तसमयः कालः' ऐसा छोटा सूत्र करते, न तो इधर चकारकी जरूरत थी, और न 'सोऽनन्तसमयः' ऐसा पृथक् सूत्र करके अनुवृत्तिके लिये तत्शब्दकी जरूरत थी. इससे साफ होता है कि कालको आचार्य महाराजने विकल्पसे द्रव्यतरीके माना है, और ऐसा होने पर 'कालश्चेत्येके' ऐसा श्वेतांबरोंके कथनानुसार ही पाठ होना जरूरी है. दिगम्बरोंके हिसाबसे तो सारे लोकके आकाशमें कालाणुकी विद्यमानता है. इससे उनके मतसे तो जैसा 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' यह सूत्र श्रीउमास्वातिवाचकजीने किया है, उसी तरहसे इस कालद्रव्यके लिये भी अवगाह और प्रदेशमान समग्रलोकमें दिखाना जरूरी था, याने 'लोके तदाकाशमिताः (या) लोकमिता कालाणवः' ऐसा या अन्यकिसी तरहसे कहने की जरूरत थी. लेकिन न तो सूत्रकारमहाराज स्वतंत्र कालको द्रव्य मानते हैं, अथवा न तो लोकाकाशमें व्याप्ति मानते हैं, और न समग्रलोकाकाशके प्रदेश जितने है इतने कालके अणु मानते हैं. इससे साफ होता है कि न तो सूत्रकार दिगम्बर आम्नायके थे, और न उन्होने दिगम्बरकी मान्यता सच्ची मानी है. यह सूत्र कालश्चेत्येके किसीभी तरहसे माने, परंतु यह सूत्र पूर्णतः श्वेताम्बरोंकी मान्यताकाही है, इससे साफ होता है कि इसके कर्त्ता आचार्य श्वेताम्बरोंकी मान्यता वाले थे और यह तत्त्वार्थसूत्र भी उन श्वेताम्बरोंकाही है.

(३७) आगे आश्रवको प्रतिपादन करनेवाले छट्ठे अध्यायमें दिगम्बर 'तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषैः' ऐसा छट्ठा सूत्र मानते हैं. और श्वेताम्बर लोग 'तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणेभ्यस्तद्विशेषः' ऐसा सूत्र मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कहना है कि जैसे तीव्रमन्दादि अभ्यन्तर हैं इसी तरहसे वीर्यभी अभ्यन्तर वस्तु है और अधिकरण यह बाह्य वस्तु है और उस अधिकरणके भेदभी आगे दिखानेके हैं तो अधिकरणको आखिरमेंही रखना योग्य है. तृतीया लेके करण लेना या पंचमीसे हेतु लेना और विशेषशब्दकी इधर जरुरत है या नहीं यह शोचनेके काबिल होने परभी कर्त्ताकी चर्चामें इतना उपयुक्त नहीं है.

इस स्थानमें सबसे ज्यादा ध्यान देनेका तो यह है कि इधर अधिकरण पद समासमें आगया है इससे गौणका परामर्श होना नहीं मानके आगेके सूत्रमें 'अधिकरणं जीवाजीवाः' ऐसा कहकर अधिकरणशब्द स्पष्ट लेनेकी जरूरत हुई, इसी तरहसे दूसरे स्थानोंमें समस्तपदोंकी अनुवृत्ति करना सूत्रकारको इष्ट नहीं है; यह बात निश्चित होजाती है।

(३८) इसी अध्यायमें सूत्र १३ में दिगम्बर लोग 'कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य' ऐसा सूत्र मानते हैं. तब श्वेताम्बर लोग 'कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य' ऐसा पाठ मानते हैं श्वेताम्बरोंका कहना ऐसा है कि इधर

आत्मशब्द न रक्खें तो किसी मुनिमहाराजको किसी अधम- मनुष्यने कषायोदयसे ताडन तर्जन किया. तो क्या कषायो- दयसे मुनिराजके शरीरमें जो पर्यायान्तर हुआ वह मुनिराजको चारित्रमोहको बन्धानेवाला होगा ?, मानना ही होगा कि वैरा- ग्यवान् मुनिराजको तो उससे निर्जरा होती है, तो पीछे इधर परिणामकी साथ आत्मशब्द लगाना जरूरी ही है दोनों फीरके वालेने इसी ग्रंथके दुसेर अध्यायका औपशमिकवाले सूत्रमें औदयिक पारिणामिकसे पेश्तर ही जीवस्वतत्व शब्दका कहना माना है, इससे यह भी मानतेही है कि कर्मोदयजन्य परिणाम भी जीव और अजीव दोनोंमें होता है, इससे इधर आत्मशब्द होना ही चाहिए.

(३९) इसी तरहसे सूत्र १४ में दिगम्बर ' बह्वारंभ- परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ' ऐसा ही सूत्र मानते हैं, तब श्वेतां- बर 'बह्वारंभपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः' ऐसा पाठ मानते हैं. श्वेतांबरोंका मतलब यह है कि जैसे बहुतआरंभादिसे नरकका अविरत ऐसे चक्रवर्तिआदि जीव आयुष्य बांधते हैं, उसी तरहसे तन्दुलमत्स्य कुरुटोत्कुरुट आदिके समान जीवो भी कषायोदय- की तीव्रतासे नरकके आयुष्यका आश्रव करते हैं, इससे चकार- की जरूरत है, और इसीसे ही देव, गुरु, धर्मकी आशातना करनेवालेको और मासादिकका तप करके आहार करनेवालेको भी नरकादिका आयुष्य बांधने का संभव माना जायगा.

(४०) अध्यायसातवेंमें दिगम्बर लोग 'हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं' ऐसा पाठ मानते हैं, तब श्वेतांबर लोग 'हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनं' ऐसा पाठ मानते हैं. इधर तो साफ मालूम होजाता है कि 'इह' और 'अमुत्र'-का समुच्चय करनेके लिये चशब्दकी जरूरत है, और सूत्रकार-ने चकार कहा भी होगा. लेकिन सिर्फ श्वेतांबरोंका सूत्र लेकर किसी भी तरहसे यद्वा तद्वा करके उलट पुलट करने का कार्यही दिगंबरोंने किया मालूम होता है.

(४१) जिसतरहसे नवमें सूत्रमें जरूरी ऐसा चकार था, लेकिन दिगम्बरोंने उडा दिया, इसी तरहसे ग्यारहवें सूत्र-में 'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च संवेगवैराग्यार्थं' ऐसा सूत्र बनाकर अनावश्यक चकारको शरीक कर दीया हैं. इधर चकारका कोईभी मूल प्रयोजन नहीं है. और न तो इधर चकार लगानेसे कोई फायदा है लेकिन दिगम्बरोंने इधर चकार लगा दिया हैं.

(४२) अध्याय सातवेंमें सूत्र ३२ में दिगम्बरोंने '०कंदर्प-०परिभोगानर्थक्यानि' ऐसा सूत्र माना है और श्वेताम्बरोंने '०कंदर्प० गाधिकत्वानि' ऐसा सूत्र माना है. श्वेताम्बरोंका कहना है कि अनर्थदंडके अधिकारमें अनर्थक किसको गिनना? यही समझानेका होता है. और उसी ही शब्दको भीतर कैसे डालें ?, इससे यह साफ हैं कि अपने अर्थसे ज्यादा हो वह

अतिचाररूप होवे, अन्यथा अधिक होने पर भी अन्यके भी प्रयोजनमें आवे उसको अनर्थक कैसे कह सकें ? यानें अनर्थकपन तो तभी होवे कि अपने और दूसरेके भी प्रयोजनमें न आवे और अधिकपणा तो अपने कार्यसे ज्यादा हुआ उसको कह सक्ते हैं, और वही अनर्थदंडका अतिचार बनता है.

(४३) आठवें अध्यायके६ट्ठे सूत्रमें दिगम्बर 'मतिश्रुताव-धिमनःपर्ययकेवलानां' ऐसा सूत्र मानते हैं. तब श्वताम्बर 'मत्या-दीनां' इतना ही सूत्र मानते हैं, श्वेतांबर लोक इसके सबबमें कहते हैं कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यव और केवल ये पांचों ज्ञान प्रथम अध्यायमें दिखा गये हैं. इससे मत्यादि इतनाही कहना काफी हैं, ऐसा नहीं कहना कि यदि इधर मति आदिको स्पष्ट नहीं कहते हैं तो फिर 'चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां' ऐसा दर्शनावरणके भेदोंमें स्पष्ट निर्देश क्यों मानते हैं?. ऐसा नहीं कहनेका कारण यह है कि इस ग्रंथमें इसके सिवाय किसी भी स्थानमें चार दर्शन गिनाये ही नहीं है. क्षायिक और क्षायोपशमिकभेदमें क्रमसे एक और तीन मिलके चार दर्शन गिनाये है. लेकिन किसी भी स्थानमें चारदर्शनके नाम तो गिनायेही नहीं है. इस सबबसे इन चार नामोंको जरूर कहना चाहिये. और मत्यादिज्ञानके नाम तो आगे आगये हैं, सबब नहीं कहना ही लाजिम हैं. दिगंबरोंकी उलटपालट करनेकी विचित्रता तो यह है कि यहां स्पष्टताकी जरूरत है और सूत्रकारने स्पष्टता की है वह उडा देते है और

जिधर पुनरुक्तपनसे संकोच किया है वहां स्वयं संकुचितता कर बैठते हैं.

(४४) आठवें अध्यायके १३ वें सूत्रमें दिगम्बरलोग 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां' ऐसा पाठ मानते हैं. तब श्वेताम्बरलोग 'दानादीनां' इतना ही सूत्र मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कहना है कि श्रीमान्‌ने दूसरे अध्यायके चौथे सूत्रमें ही क्षायिकके भेद गिनाते दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पांचो ही भेद यथाक्रमसे गिनाये हैं. और सूत्रकारकी पद्धतिसे एकवार कहा हुआ दुवारा कहना उचित भी नहीं है.

(४५) इसी अध्यायके २० वें सूत्रमें दिगम्बर 'शेषाणामन्तर्मुहूर्त्ताः' ऐसा पाठ मानते हैं. तब श्वेताम्बर 'शेषाणामन्तर्मुहूर्तं' ऐसा पाठ मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कहना है कि अंतर्मुहूर्त्त यह शब्द अव्ययीभावसे बना होनेसे नपुंसकलिंगका है. इससे अंतर्मुहूर्त्तं ऐसाही होना चाहिये. और सब शेषकर्म्मोंकी जघन्यस्थिति एक एक अंतर्मुहूर्त्तकी होनेसे अन्तमुहूर्त्तशब्दसे आगे बहुवचन करना विरुद्ध है. कभी ऐसा कहनेमें आवे कि एकेक कर्मकी अन्तर्मुहूर्त्तकी जघन्यस्थिति होनेसे सब शेषकर्मोंकी अपेक्षासे बहुत अन्तर्मुहूर्त्त होनेसे अन्तर्मुहूर्त्तशब्दके आगे बहुवचन धरना मुनासिब है. लेकिन यह कहना व्यर्थ है. इसका सबब यह है कि बहोतकर्मोंकी अपेक्षासे स्थितिमें बहुवचन माने तो पेश्तर ज्ञानावरणादिचारकर्मोंकी उत्कृष्ट

स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम कही है वहां पर 'त्रिंशतः' ऐसा कहना होगा और नामगोत्रकी स्थिति वीस सागरोपम कोटाकोटि दिखाई है तो वहां पर 'विंशती' ऐसा कहना होगा. इसी तरहसे देवताओंकी स्थितिमें प्रत्येक देवता और देवलोककी अलग २ स्थिति होनेसे पल्योपम और सागरोपममें सभी स्थानमें बहुवचन रखना होगा. इन सब सूत्रोंसे साफ होता है कि 'अंतर्मुहूर्त्त' ऐसा ही पाठ होना चाहिये.

(४६) नवमें अध्यायके ३०वें सूत्रमें दिगम्बर 'आर्त्तममनोज्ञस्य०' और ३१ में 'विपरीतं मनोज्ञस्य' ऐसा पाठ मानते हैं. तब श्वेताम्बर 'आर्त्तममनोज्ञानां०' ऐसा पाठ मानते हैं. श्वेताम्बरोंका कहना है कि अनेकतरहके अमनोज्ञ विषय होते हैं और ध्यानका वक्त मुहूर्त्त तकका होनेसे अमनोज्ञविषयोंके वियोगमें ध्यान होता है. और अनेकविषयोंका समूहरूपसे भी वियुक्त होनेके लिये ध्यान होता है. इससे बहुवचन रखना यही मुनासीब है.

(४७) सूत्र ३३ में दिगम्बर 'निदानं च' ऐसा सूत्र पाठ मानते हैं और श्वेताम्बर 'निदानं कामोपहतचित्तानां' ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं. श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंही भवान्तरमें भगवानकी सेवाका मिलना, शुभगुरुका योग मिलना, गुरुवचनका श्रवण पाना इत्यादि बातें मिलनेकी चाहना करते हैं. लेकिन उनको निदान गिनकर आर्त्तध्यान नहीं गिनते हैं. इससे कौन निदान आर्त्तध्यान गिना जाय ? यह सोचना

चाहिये निर्णय यही होगा कि विषयासक्तिके परिणामवालेका ही निदान आर्त्तध्यान होगा.

(४८) सूत्र ३६ में दिगम्बर लोग धर्मध्यानके अधिकारीका निर्देश नहीं करते हैं. श्वेताम्बर लोग 'अप्रमत्तसंयतस्य' ऐसा कहकर धर्मध्यानके अधिकारीका निर्देश करते हैं. श्वेताम्बरोंका कथन है कि यदि आर्त्त, रौद्र और शुक्लध्यानके अधिकारी भगवान् उमास्वातिजीने दिखाये हैं तो फिर इधर धर्मध्यानमें अधिकारीका निर्देश क्यों नहीं ?

भाष्यके कर्त्ताकी मीमांसा

उपर्युक्त विचारोंसे श्वेताम्बर और दिगम्बरोंके तत्त्वार्थसम्बन्धी कौन २ सूत्रमें फर्क है यह बात सोचने में आ गई. अब इसी तत्त्वार्थसूत्रके उपर एक छोटा भाष्य है जिसको श्वेताम्बर लोग मानते हैं, और दिगंबर लोग नहीं मानते हैं. उस भाष्यको श्वेताम्बर लोग सिर्फ माननेही हैं ऐसा नहीं, किन्तु उस भाष्यको श्रीमान् उमास्वातिवाचकजीने ही बनाया है ऐसा मानते हैं.

अब सोचनेका यह है कि वह भाष्य श्रीमान् उमास्वातिवाचकजीका बनाया हुआ है या नहीं ? यह भाष्य स्वयं श्रीउमास्वातिवाचकजीने ही बनाया है, उस विषयमें यद्यपि इसकी वृत्ति बनानेवाले श्रीहरिभद्रसूरिजी और श्रीसिद्धसेनाचार्यजी तो साफही शब्दोंमें उस भाष्यको स्वोपज्ञ दिखाते हैं।

भाष्यका स्वोपज्ञताका विचार.

(१) भाष्यकार महाराज खुदही इस सूत्र का स्वकृतपना दिखाते हैं, देखिये संबंधकारिका ३१ ' नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्। तस्मात् परमिदमेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥' अकलमंद आदमी सोच सकते हैं कि यदि सूत्रकार और भाष्यकार एकही नहीं होते तो ' प्रवक्ष्यामि ' ऐसा अस्मत्शब्दकी साथ होनेवाला क्रिया-पद नहीं कहते.

(२) सारे भाष्यको देखनेवाला मनुष्य अच्छीतरहसे देख सक्ता है कि भाष्यमें एकभी जगह पर सूत्रकारके लिये बहुमानका एक वचनभी नहीं आया है. यदि सूत्रकारमहाराजसे भाष्यकार अलग होते तो कभी भी सूत्रकारके बहुमानकी पंक्तियां या विशेषण कहे विना नहीं रहते।

(३) भाष्यकारने किसीभी स्थानमें अवतरणके अधि-कार आदि सूत्रकारसे भिन्नपना नहीं दिखाया है. या वैकल्पिकपनभी नहीं दिखाया है.

(४) भाष्यकारने किसीभी स्थानमें सूत्रका दुरुक्तपन या सूक्तपनका विचार नहीं किया है.

(५) भाष्यकारमहाराजने किसीभी स्थानमें सूत्रकारने ऐसा कहा है सूत्रकार ऐसा कहते हैं ऐसा कथन नहीं किया है. और व्याख्यांका विकल्पभी नहीं दिखाया है.

(६) भाष्यकारने जहां परभी सूत्रका अवतरण दिया है वहां सूत्रकी साक्षी देने परभी 'उक्तं भवता' आदि सूत्रकार और भाष्यकारका अभेदपना दिखानेवालाही शब्दप्रयोग किया है.

देखिये वे 'अत्र भवता' आदि अभेददर्शक स्थानों, जिसके देखनेसे आप वाचकोंको पूरा निर्णय हो जायगा कि यह भाष्य सूत्रकारमहाराजकाही किया है—

क भाष्य (कलकत्ताकी पुस्तक) पृष्ठ ३९, 'उक्तं भवता' जीवादीनि तत्त्वानि' याने जीवादि तत्त्वो आपने दिखाये, सूत्र ४ में जीवादि दिखाये हैं. यदि भाष्यकारमहाराज और सूत्रकारमहाराज अलग होते तो इधर 'उक्तं भवता' ऐसा प्रयोग नहीं होता.

ख पृष्ठ ४५ में 'उक्तं भवता पंचेंद्रियाणीति' आपने इन्द्रियां पांच हैं ऐसा कहा है यह सूत्र अ. २ सूत्र १५

ग पृष्ठ ४५ में ही 'उक्तं भवता पृथिव्यब्वनस्पतितेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च नव जीवनिकायाः (अ२ सू.१३-१४) और पंचेन्द्रियाणि (अ.२ सू. १५) चेति, इसको सोचनेसे यह साफ हो जायगा के भाष्य सूत्रकारने ही किया है, और पृथिव्यब्वनस्पत्यादिका क्रमही स्थावर और त्रसके विषयमें माना है.

घ पृष्ठ ४६ 'उक्तं भवता द्विविधा जीवाः समनस्का अमनस्काश्चेति' (अ. २ सू. ११)

ङ पृष्ठ ६६ ' उक्तं भवता नारका इति गतिं प्रतीत्य औद-यिको भावः ' (अ २ सू. ६ गतिकषाय०)

च पृष्ठ ७७ ' उक्तं भवता लोकाकाशेऽवगाहः (५-१२) ' तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तादिति ' (१०-५) इस स्थानमें ज्यादा तो ख्याल यह करनेका है के तीसरे अध्यायमें भाष्यकार ' उक्तं भवता ' ऐसा कहते हैं, और वे सूत्र तो बहोत आगे आयेंगे, इस बातको सोचनेसे निर्णय हो जायगा के यह 'उक्तं भवता' का प्रयोग भाष्यकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु पेस्तर सूत्रकी रचना अपनेही की है उसकी अपेक्षासे ही है.

छ पृष्ठ ८६ ' उक्तं भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं च ' (अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य अ. ६ सू. १८)

ज पृष्ठ ९२ 'उक्तं भवता भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति' (भवप्रत्ययो नारकदेवानां (अ १ सू २२) तथौदयिकेष भावेषु देवगतिरिति (२-६ गतिकषायेत्यादि) केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य (अ. ६ सू. १४) सरागसंयमादयो दैवस्य (सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि च दैवस्य (अ. ६ सू २०), नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि, न देवाः (अ. २ सू. ५०-५१)

झ पृष्ठ ९६ ' उक्तं भवता देवाश्चतुर्निकायाः (४-१) दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः (४-३)

ञ पृष्ठ १११ ' उक्तं भवता द्विविधा वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च (अ. ४ सू. १८)

ट ' पृष्ठ ११३ उक्तं भवता जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनिगतिरिति (अ. २ सू. ६) (गतिकषायलिंगेत्यादि) तथा स्थिती तिर्यग्योनीनां चेति (३-१८) आश्रवेषु च माया तैर्यग्योनस्य (अ. ६ १७) इति.

ठ पृष्ठ १३४ 'उक्तं भवता संघातभेदेभ्यः स्कन्धाः उत्पद्यन्ते (अ. ५-२६ संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते)

ड पृष्ठ १३५ 'उक्तं भवता जघन्यगुणवर्जानां स्निग्धानां रूक्षेण रूक्षाणां च स्निग्धेन सह बंधो भवतीति' (न जघन्यगुणानाम् ५-३३)

ढ पृष्ठ १३६ ' उक्तं भवता द्रव्याणि जीवाश्च ' (५-२)

ण पृष्ठ १३७ ' उक्तं भवता गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ' (५-३७)

त पृष्ठ१३७'उक्तं भवता बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ'(५-३६)

थ पृष्ठ १४३ ' उक्तं भवता सकषायाकषाययोर्योगः साम्परायिकेर्यापथयोः ' (६-५) (सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः)

द पृष्ठ १४९ 'उक्तं भवता सद्वेद्यस्याश्रवेषु भूतव्रत्यनुकम्पेति' (६-१३)

ध पृष्ठ १५४ 'उक्तं भवता हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतं' (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ७-११)

न पृष्ठ १८३ 'उक्तं भवता गुप्त्यादिभिरभ्युपायैः संवरो भवतीति' (९ २ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा०)

प पृष्ठ २०७ 'उक्तं भवता पूर्वे शुक्ले ध्याने (शुक्ले चाद्ये ९-३९) परे शुक्ले ध्याने (परे केवलिनः ९-४०)

फ पृष्ठ २०८ 'उक्तं भवता परीषहजयात्तपसोऽनुभावतश्च कर्मनिर्जरा भवतीति' (९-३ तपसा निर्जरा च, ८-२२ विपाकोऽनुभावः, ८-२४ ततश्च निर्जरा)

ब पृष्ठ ३ तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथम् ।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

इन वचनोंसे भी साफ होजाता है के भाष्यकारही सूत्रकार है, यदि दोनों एकही नहीं होते तो 'वक्ष्यामि' ऐसा ग्रंथ करनेके विषयमें नहीं कहते.

भ पृष्ठ ५ 'तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः' इस स्थानमेंभी 'उपदेक्ष्यामः' ऐसा प्रयोग मोक्षमार्गके लिए तबही होवे के जब मूलकारही भाष्यकार होवे.

म पृष्ठ ७ 'ताँल्लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद् विस्तरेणोपदेक्ष्यामः' सूत्रकारही भाष्यकार नहीं होते तो इधर 'वक्ष्यन्ति' ऐसा कहते ।

य पृष्ठ १६ भाष्यकार लिखते हैं के 'उक्तं भवता मत्यादीनि ज्ञानानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च पुरस्ताद्वि-स्तरेण वक्ष्याम इति तदुच्यतामिति । अत्रोच्यते । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्तेत्यादि,' इन पंक्तियोंको सोचने-वाले अकलमंद तो ज़रूर मंजुर करेंगे के इस वचनसे सूत्रकार और भाष्यकार एकही व्यक्ति है, क्योंके ऐसा नहीं होता तो भाष्यकारके वचनका दाखला लेके शंका उठानी और पीछे सूत्रसे समाधान करना यह दोनोंके कर्ता एक न होवे तो कभी भी बने नहीं.

इसी तरहसे पृष्ठ ९ 'अणवः स्कंधाश्च (५-२५) संघात-भेदेभ्य उत्पद्यन्ते (५-२६) इति वक्ष्यामः, पृष्ठ १६ नय-वादान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजानि भवन्ति तथा पुरस्ताद्वक्ष्यामः ।

र पृष्ठ ३२ चारित्रं नवमेऽध्याये वक्ष्यामः, नयान् वक्ष्यामः,
पृष्ठ ४८ सकषायत्वा० (२-२ ' कायवाङ्मनःप्राणा०
(५-१९ नामप्रत्ययाः० (८-२४) इति वक्ष्यामः।
पृष्ठ १६६ बन्धं वक्ष्यामः ।
पृष्ठ १७२ स्थितिबन्धं वक्ष्यामः ।
पृष्ठ १८० अनुभावबन्धं वक्ष्यामः ।

पृष्ठ १८१ प्रदेशबन्धं वक्ष्यामः ।
पृष्ठ १८३ संवरं वक्ष्यामः ।
पृष्ठ १९५ परीपहान् वक्ष्यामः ।
पृष्ठ २०० इत ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामः ।

इन सब स्थानोंमें मूलसूत्रकारके विपयमें तीसरे पुरुपके क्रियापदकी जरूरत थी, लेकिन मूल और भाष्यके रचयिता एकही होनेसे सर्वत्र 'वक्ष्यामः' ऐसा अस्मत्‌शब्दके क्रियापदका प्रयोग किया है।

ल इन सब प्रमाणोंसे ज्यादह बलवत्तर प्रमाण नीचे दिखाते हैं. इस नीचे दिये हुए प्रमाणसे साफ मालूम होजायगा कि तत्त्वार्थके मूलसूत्रकार और भाष्यकार एकही हैं. इस प्रमाणको ज्यादह बलवत्तर कहनेका मुद्दा यह है कि खुदही भाष्यकार महाराज अपनी स्पष्ट वृत्ति दिखाते हैं.

पृष्ठ २३२ वाचकमुख्यस्य० । वाचनया च महा० न्यग्रोधिकाप्रसूतेन० । अर्हद्वचनं सम्यग्गुरु० । इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धं । तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना (स्वातितनयेन) शास्त्रम् ॥ ९ ॥

ऐसा स्पष्ट प्रमाणमय उल्लेख होने परभी भाष्यकारको नहीं मानना, यह कैसा अभिनिवेशका प्रभाव होगा सो वाचकगण आपही सोचें

भाष्यको नामंजूर करनेका सबब.

उपर्युक्त प्रमाणोंसे वाचकोंको स्पष्ट मालूम होगया होगा कि जिन उमास्वातिवाचकजीने तत्त्वार्थ-सूत्र बनाया है, उन्होनेही यह भाष्यभी बनाया है. वाचकको अब यह शंका जरूर होगी कि ऐसा स्पष्ट प्रमाण होते दिगम्बर लोग तत्त्वार्थसूत्रको मंजूर करते हैं, लेकिन भाष्यको क्यों नहीं मंजूर करते हैं?, परन्तु यह शंका उन्हीं वाचकोंको होगी कि जो दिगम्बरोंकी रीतिसे परिचित नहीं हैं. क्योंकि उन लोगोंको असल तो तत्त्वार्थ ही मानना उचित नहीं है सबब कि इसमें संगमात्रको परिग्रह नहीं कहा है, केवलीमहाराजको ग्यारह परीषह मानकर केवलीको आहार माना है. बकुशको भी निर्ग्रंथ माना है. लेकिन ये लोग इन मूल-सूत्रोंका अर्थ अपने मजहबके अनुकूल ठोक ठाक कर बैठा लेते हैं. लेकिन जब भाष्यको मंजूर करें तब तो अपना कपोलकल्पित अर्थ चले नहीं, इससे इन दिगम्बरोंने भाष्यको नामंजुर ही रक्खा. भाष्यकारमहाराजने तो विवेचनमें ऐसा स्पष्ट फर्माया है कि जिससे दिगम्बरोंको अपनी मंतव्यता छोडकर श्वेताम्बरों-की मन्तव्यता मंजूर करनी ही पडे. देखिये—

७ ११ का भा.—चेतनावत्सु अचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्छा परिग्रहः

९-११ का भा —एकादश परिषहाः जिने वेदनीयाश्रयाः संभवन्ति, तद्यथा-क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्या-वधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः

९-४८ का भाष्य—शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिन ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराश्छेदशब-लयुक्ता निर्ग्रंथा वकुशाः, लिंगं द्विविधं—द्रव्य-लिंगं भावलिंगं च, भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पंच निर्ग्रंथा भावलिंगे भवन्ति, द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः

९-४९ लिंगं स्त्रीपुंनपुंसकानि, प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनी-यस्यावेदः सिध्यति, द्रव्यलिंगं त्रिविधं—स्वलिंगमन्यलिंगं गृहिलिंगमिति, तत् प्रतिभाज्यं। सर्वस्तोका नपुंसकलिंगसिद्धाः स्त्रीलिंगसिद्धाः संख्येयगुणाः पुलिंगासिद्धा संख्येयगुणा इति ।

७-२३ अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालतपस्वि-शैक्ष्यग्लानादीनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति ।

७-३ अनुज्ञापितपानभोजनमिति ।

७-३३ आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य-द्रव्यजातस्य अन्नपात्र-वस्त्रादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम् ।

९-२६ तत्र बाह्यो द्वादशकरूपस्योपधेः ।

९-४९का भाष्य-बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च,
तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषोपकरणकांक्षायुक्तो नित्यं तत्प्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति ।

उपर्युक्त वाक्योंको देखकर दिगम्बरोंने भाष्य खुद सूत्रकारने किया होने परभी मंजूर किया नहीं है.

भाष्यका अनुकरण

यद्यपि दिगम्बरोंने इस भाष्यको मान्य नहीं किया है, लेकिन दिगम्बरोंके आचार्योंने इसी भाष्यको देखकर उसके ऊपरसे ही बादमें सर्वार्थसिद्धिआदि टीकाएँ बनाई हैं.

कृतिकी आवश्यकता

श्रीमान् गणधरमहाराजने और आचार्यमहाराजाओंने अनन्तगम और नयके विचारसे युक्त अंगोंकी रचना की थी, और वह कृति श्रीमानकी वक्त अच्छी तरह विद्यमानभी थी, तो फिर सूत्रकारमहाराजको तत्त्वार्थ बनानेकी क्या जरुरत थी ? श्रीमानने इस शास्त्रमें कही हुई बातें सूत्रोंमें स्पष्ट उपलब्ध थी और अभी भी उपलब्ध है. देखिये ! सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गके लिए ' नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा ण होंति चरणगुणा ।

चरणाहिंतो मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणाबाहं ॥ उत्तरा. अध्य.
इसी तरहसे पण्णवणाजी और उत्तराध्ययनमें निसर्गाधिगम सम्य-
क्त्वका ब्यान पद १ और उत्तराध्य० की गाथाओंमें है, सत्संख्या-
क्षेत्रादिके लिए संतपयपरूवणा अनुयोगद्वारोमें, ज्ञानका सारा
अधिकार नन्दीसूत्रमें, नयका अधिकार अनुयोगद्वारमें, भावोंका
अधिकार अनुयोगद्वारोमें, जीवोंके भेद जीवाभिगम और पण्ण-
वणा, शरीरका अधिकार प्रज्ञापनामें और अनुयोगद्वारमें, नरकका
अधिकार जीवाभिगम भगवतीजीआदिमें, भरतादिक्षेत्रोंके लिए
जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति शेष समस्तद्वीपसमुद्रोंके लिए भगवतीजी और
अनुयोगद्वार और जीवाभिगम, देवताओंका अधिकार स्थानांग
समवायांग भगवती प्रज्ञापना जीवाभिगमादि, काल और सूर्य-
चंद्रादि भ्रमणआदिके लिए स्थानांग भगवती जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति चंद्र-
प्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्तिआदि, देवताओंकी स्थितिके लिये प्रज्ञापनाका
स्थितिपदआदि, धर्मास्तिकायादिद्रव्योंके लिए अनुयोगद्वार-
स्थानांगभगवतीआदि,पुद्‌गलोंके स्कन्धवर्ण शब्दके लिए उत्तरा-
ध्ययन प्रज्ञापना भगवती स्थानांगादि, उत्पादादि स्याद्वादके
लिए नयापेक्षयुक्त अनुयोगद्वार भगवतीआदि, द्रव्यादिके लक्षणों-
के लिए उत्तराध्ययनादि,आश्रवके लिए स्थानांग भगवतीआदि,
ज्ञानावरणादिहेतुओंके लिए श्रीभगवतीजी पंचसंग्रहादिप्रकरण
देशसर्वविरति और भावनाके लिए सूगडांग आचारांग उपासक-
दशादि, अतिचारोंके लिए उपासकदशांगश्राद्धप्रतिक्रमणादि,

कर्मके भेदोंके लिए स्थानांग प्रज्ञापना भगवती कर्मप्रकृत्यादि, कर्मोंकी स्थितिके लिए स्थानांग समवायांग प्रज्ञापनादि, संवरके लिए उत्तराध्ययन दशवैकालिक आचारांगादि, परीषहके लिए उत्तराध्ययनभगवत्यादि, तपस्याके लिए उत्तराध्ययन औपपातिक स्थानांग भगवत्यादि, ध्यानके लिए आवश्यकनिर्युक्ति औपपातिक स्थानांगादि, निर्ग्रंथोंके स्वरूपके लिए भगवती उत्तराध्ययन स्थानांगादि, मोक्षके लिए औपपातिक प्रज्ञापनादि, इन सबकी मतलब यह है कि श्रीमान्‌उमास्वातिवाचकजीने तत्त्वार्थसूत्रमें जो हकीकत कही है वे सूत्रोंमें अनुपलब्ध नहीं हैं, तब ऐसा है तो पीछे ऐसा अलग सूत्र करनेकी क्या जरूरत थी ? ऐसा अलग सूत्र बनानेसे तो विद्यार्थिलोग इससे ही संतुष्ट हो जायेंगे और आगे सूत्र देखनेका प्रयत्न नहीं करेंगे और ऐसा होनेसे सूत्रकार-गणधर महाराजकी अवज्ञा होगी. देखते भी हैं कि दिगंबरलोग इसी तत्त्वार्थको मंजुर करते हैं और सब सूत्रसिद्धांतोंको उडा देते हैं. यदि वाचकजीमहाराजने यह नहीं बनाया होता तो दिगंबरोंको ऐसा सूत्रापलापका महापाप अंगीकार करनेका मौका नहीं भी आता, पूर्वोक्तशंकाके समाधानमें पेश्तर तो यही समझ लेना योग्य है कि जैनोंमें न तो 'पूर्वपूर्वमुनीनां प्रामाण्यं' ऐसा नियम है, और न 'उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यं' ऐसा नियम है, किन्तु पूर्वापर अविरुद्ध स्याद्वादमय पदार्थको मानना यही नियम है. इससे श्रद्धालुओंको तो पदार्थ सूत्रमेंसे मिले या दूसरे ग्रंथोसे मिले

उसमें किसीभी तरहकी हरज नहीं है. असलमें सूत्रके अधिकारी होने परभी आग्रहसे ही सब कोई सभी सूत्रके अधिकारी नहीं होते हैं. इससे आद्याधिकारियोंको फायदा पहोंचाना यह इस ग्रंथका उद्देश्य है. दूसरा मुद्दा यह भी है कि आपके कथनसेभी यह बात तो स्पष्ट है कि इस तत्त्वार्थमें कहे हुए विषय श्रीगणधरप्रणीत-सूत्रोंमें है लेकिन विप्रकीर्ण है, तो ऐसे विप्रकीर्णपदार्थको एकत्र करके कहना यह कमउपयोगी नहीं है. तीसरा मुद्दा यह भी है कि सूत्रोंमें जहां जहां पदार्थोंका स्वरूप कहा है वहां बडे बडे विस्तारसे और सर्वांगपूर्णतासे कहा है. और सब विद्यार्थिगण ऐसा विस्तारयुक्त और सर्वांगपूर्ण तत्त्व अवधारण करनेको समर्थ न होवे, इससे वैसेके लिए ऐसा लघुसंग्रह बनानेकी जरूरत कम नहीं है. चौथा मुद्दा यहभी है कि शास्त्रोंमें जिसरूपसे जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप कहा गया है उससे इधर कुछ औरही रूपसे जीवादितत्त्व कहे हैं. याने जैसा इधर सम्यग्दर्शनादिक-क्रमसे जीवादि पदार्थ निरूपित हैं वैसा क्रम किसीभी सूत्रमें नहीं है. पांचवें मुद्देमें अभ्यासियोंको मुखपाठ करनेमें लघु सूत्र होनेसे बडी सुभीता रहती है, खुद गणधर महाराजाओंनेंभी भगवतीजीआदिसूत्रोंके शतकउद्देशकी आदिमें संग्रह दिखाया है. और श्रीसमवायांगजी और नन्दीजीमें आचारांगादिकसूत्रकी संग्रहणी और श्रीपाक्षिकसूत्रमें भी कालिक उत्कालिक सभीकी संग्रहणी कही है, इससे सबका संग्रह यह

तत्त्वार्थका होना मुनासिवही है, इन सब कारणोंको सोचते स्पष्ट मालूम होजायगा कि वाचकजीमहाराजकी यह रचना अत्यंत आवश्यक है, ऐसी छोटी कृतिसे विद्यार्थियोंको तत्त्वपदार्थोंका समझना सहेल होनेसे सूत्रकारका कहा हुवा विस्तृत वयान जाननेको तैयार और लायक हो जायेंगे. इससे श्रीवाचकजीमहाराजने सूत्रकारकी अवज्ञा नहीं की, किन्तु सूत्रकारमहाराजकी वडीही भक्ति की है. आखिरमें जो आपने कहाकि दिगंवरलोग इसी तत्त्वार्थको मान्य करके सूत्रोंको उडा देते हैं, तो इसमें ऐसाही कहा जायकि आगाढमिथ्यात्वका उदय होजाय और ऐसा करे उसमें श्रीवाचकजीमहाराजका क्या दोप ?, क्या ऐसा तत्त्वार्थ जैसा ग्रंथ नहीं होता तो वे दिगंवर आगाढमिथ्यात्वी नहीं होते ?, कभी नहीं, तो पीछे इस आगाढमिथ्यात्ववालेका विचार ले के वाचकजी पर दोपारोप कैसे किया जाय?, इन दिगंवर लोगको तो उत्थापकपन और विपर्यासकारित्व गलेमेंही लगा है. उसमें कोई क्या करेगा ?, देखिये ! इन लोगोंने भगवानकी मूर्तिको भी चक्षुहीन कर दी, इतनाही नहीं, वल्के पल्यंकआसनसे वैठने पर किसीभी आदमीका लिंगआदि दृश्य नहीं होता है, तवभी इन दिगंवरोंने पल्यंकासनस्थ भगवत्प्रतिमाको भी हाथके आगे लिंग लगा दिया है, असलमें भगवानका लिंग अदृश्य था, उसकोभी इनोने नहीं सोचा. दिगंवरलोग यह नहीं सोचते हैं कि जव तत्त्वार्थसूत्रको मंजूर करना है तो पीछे श्रीमान्-

गणधरमहाराजनें ही बनाये हुवे और इस तत्त्वार्थकी जडरूप वैसे सूत्र मंजुर क्यों नहीं करना?, लेकिन तत्त्वार्थसूत्र होताही नहीं तो क्या दिगंबरलोग सूत्र मानते?, कभी नहीं, तत्त्वार्थ मानने पर अर्धजरतीय न्यायका अवलंबन करके जो लोग सूत्रको मंजुर नहीं करते हैं वे लोग यदि तत्त्वार्थ नहीं होता तो अश्रुतवादी नहीं बन सक्ते थे?, यदि अश्रुतवादी बननेमें इनको हरज नहीं आती तो पीछे वाचकजीकी कृतिको क्यों दूषित करनी?, तत्त्वसे देखें तो श्रीवाचकजीमहाराजने इस सूत्रसे बडाही उपकार किया है, इसमें किसी भी तरहसे शक नहीं है

कृतिका स्वरूप

इस तत्त्वार्थको देखकर ये शंकाएं जरूर होगी कि यद्यपि बडे बडे शास्त्रोंमें श्रोताओंको सुगमतासे प्रवेश कराने के लिए ऐसे ऐसे लघु शास्त्रोंकी जरूरत है, लेकिन ऐसे छोटे छोटे शास्त्रको प्रकरणसंज्ञा देनी चाहिये, वह इधर नहीं है, इधर इस तत्त्वार्थको सूत्र क्यों कहा जाता है?, वैसे ही सूत्रोंमें स्थान स्थान पर सूत्रका अवयवको अध्ययन उद्देश प्राभृत प्राभृतप्राभृत वर्ग वस्तु चूलवस्तु आदि संज्ञा होती है, और इधर अध्यायसंज्ञा जो रक्खी है वह क्यों रक्खी गई, ऐसी दूसरी शंका होगी, वैसेही इधर जैनोंके लिए अतिमानास्पद ऐसी प्राकृतभाषामें इसकी रचना नहीं करते संस्कृतभाषामें इसकी

रचना क्यों की?, यह तीसरी शंका होगी, चौथी शंका यह भी होगी कि अध्ययनकर्ताओंको मुखपाठ करनेमें और धारण स्मरणमें उपयोगी वैसी पद्यबन्ध रचना नहीं करते गद्यबन्ध रचना इधर क्यों की गई?, इन शंकाओंके समाधान इस तरहसे क्रमसर समजने चाहिए, इसको सूत्र कहने का यह सबब मालूम होता है कि प्रकरणका कार्य एकेक अंशको व्युत्पादन करनेका होता है, और इस सूत्रमें सब विषयोंका प्रतिपादन है. असल तो जैसे जैमिनिआदिने अपने अपने मजहबके दर्शनसूत्र बनाये, इसीतरहसे यह श्रीतत्त्वार्थ भी जैनमजहबका दर्शनसूत्र बनाया है, इसीसेही इसको सूत्र कहा जाता है. यही समाधान विभागका नाम अध्याय तरीके रखनेमें और गद्यबन्धसूत्रकी रचना करनेमें भी समजना, क्योंकि दूसरे दर्शनशास्त्रभी अध्यायविभागसे और गद्यसूत्रसे ही है, ऐसे यह सूत्रभी रचा गया है, इसी तरहसे दूसरे दर्शनशास्त्र ग्रन्थ संस्कृतभाषामें होनेसे ही यह सूत्र भी संस्कृतभाषामेंही बनाया गया है. जैनीलोग अकेली प्राकृतभाषाही मान्य करते हैं यह कहना ही बेसमझका है, क्योंकि जैनोंके स्थानांग और अनुयोगद्वारसूत्रमें 'सक्कया पक्कया चेव' इस वाक्यसे संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषा एकसरीखी मानी हैं. श्रीमान् तीर्थंकरमहाराजादिकी देशना जिस प्राकृतमें मानी है, वह प्राकृत अभी कही जाती है वैसी संस्कृतजन्य प्राकृत नहीं है, किन्तु अढारतरहकी देशीभाषासे मिश्रित अर्धमागधी प्राकृत है.

इस भाषासे सभी देशवाले श्रोताओंको धर्मका बोध अच्छी-तरहसे हो सकता है. संस्कृतभाषामें देशना देनेसे कतिपय विद्वानोंकोही बोध मिले, लेकिन सामान्य जनता तो श्री-जिनेश्वरभगवानके उपदेशसे वंचित रहे, और यदि ऐसा होवे तो पीछे श्रीजिनेश्वरमहाराज जगद्गुरु कैसे बनें ?, देवता-की भाषा भी अर्धमागधी ही है. इसका सबब भी यही है कि आबालगोपालको देवताके आराधन की योग्यता है. और देवताको आराधकका भाव समझनेकी भी जरूरत है. इतनाही नहीं, किन्तु देवताका वार्तालाप यदि संस्कृतमें ही होवे तो आबालगोपालके साथ तुष्ट होकर वार्तालाप करना या वरदान देना असंभवितही हो जाय. इससे देवताओंकी भाषा भी आबालगोपालकी समझमें आजाय ऐसी अर्धमागधी मानी गई है, लेकिन संस्कृतभाषासे विद्वानोंको समझानेकी जरूर गिनकेही श्रीमान् उमास्वातिवाचकजीने यह सूत्र संस्कृतमें ही बनाया है. संस्कृतेतर भाषा ही पूर्वकालमें प्रचलित थी इससे अशोकादिकराजाआदिके प्राचीन लेख भी संस्कृतेतरभाषामें ही है, प्राचीनतम कोईभी शिलालेख संस्कृतभाषामें नहीं है, संस्कृतशब्दही संस्कृतभाषाके असली-पनका इन्कार करता है, क्योंकि कोईभी असलीभाषाका संस्कार करके तैयार की हुई भाषाही संस्कृत हो सकती है. और इसीसे ही प्राकृतभाषाको सूगडांगनिर्युक्तिकार

स्वाभाविकभाषा गिन सकते हैं. प्राकृतशब्दका अर्थ भी भाषाका स्वाभाविकपन दिखाता है. इतना होने परभी जमानेके प्रभावसे जब संस्कृतभाषाकी ओर लौकिकविद्वद्गण झुका और लोगोंकी अभिरुचि संस्कृतकी ओर बढी, अंतमें संस्कृतमें ही विद्वत्ता की अपूर्वता गिननेमें आई. तब श्रीमान् उमास्वातिवाचकजीको भी जैनमहत्ताके लिए तत्त्वार्थसूत्र संस्कृतभाषामें करना जरूरी मालूम हुआ।

दर्शनशास्त्रोंकी छाया.

पूर्वतरकालीन जैनसूत्रोंकी रचना ज्ञानादि आत्माका स्वरूप है और आश्रवादि विकार हैं. जिससे आश्रवादिसे हट जाना और ज्ञानादिके लियेही कटिबद्ध होना इसी उद्देशसे की जाती थी, और इसी सबबसे भव और मोक्षमें भी आखिर उदासीनताही रहती थी, इसी सबबसे तो केवलीमहाराजको संकल्प विकल्प रहित मानते थे, लेकिन सांख्य, नैयायिक, मीमांसा, वैशेपिक और बौद्ध वगैरहने जब अपने शास्त्र मोक्षके उद्देशसे बनाये और लोगोंकी अभिरुचि भी ऐसी हुई तो श्रीमान् उमास्वातिजीको भी उसीतरहसे इसकी रचना करनी आवश्यक मालूम हुई. इसीसे ही श्रीमान्ने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा आदिमें ही मोक्षका उद्देश करके सूत्र बनाया.

१ इसी तरहसे सूत्रकारभगवानने निसर्गअधिगमादि सम्यक्त्वके दश भेद दिखाये थे, तब वाचकजीने शेष आज्ञारुचिआदिभेदोंका अन्तर्भाव निसर्ग और अधिगममें किया, और इनको भेदकी तरहसे नहीं लेते हेतुकी तौरसे लिये. साथमें सूत्रकारोंने सम्यक्त्वको आत्माका स्वरूप माना था, और तत्त्वार्थकी श्रद्धाको एक आस्तिक्यरूप लिंगपनेसे ली थी. लेकिन वाचकजीने श्रद्धाको लक्षणस्वरूपमें ली है. इसका सबब भी दार्शनिकसिद्धान्त ही है. क्योंके तर्कानुसारियोंके लिये जितना यह लक्षणादिका रास्ता अनुकूल होगा उतना वह नहीं होगा।

२ सूत्रकारोंने ज्ञान आत्माका लक्षण है ऐसा करके ज्ञानका बयान किया है, तब वाचकजीने पदार्थके अधिगमके लिये प्रमाणकी जरूरत है, और वह प्रमाण ज्ञानरूप है, इससे ज्ञानके बयानकी जरूरत गिनाई।

३ सूत्रकारोंने उपक्रमके भेदमें या ज्ञानके दूसरे पक्षसे प्रमाणकी व्याख्या की थी. तब वाचकजीने ज्ञानका स्वरूप ही प्रमाण लेकर व्याख्या की है।

४ सूत्रकारोंने अंगोपांगमें स्मरणादिकके लिये स्पष्ट विभाग नहीं किया था, वह इन्होंने मतिज्ञानमें स्मरणादिकका समावेश करके उसका परोक्षमें अन्तर्भाव स्पष्ट रूपसे दिखाया।

५ सूत्रकारोंने चक्षु और मनके लिए अप्राप्यकारिता पर दबाव नहीं दिया था, तब वाचकजीने स्वतंत्र सूत्र बनाकर

चक्षु और मनकी अप्राप्यकारिता स्पष्ट कर दी, यह भी दार्शनिकसिद्धान्तके प्रचारके सबबसे ही संभवित है. क्योंकि बौद्धोंका मन्तव्य चक्षु मन और श्रोत्रकी अप्राप्यकारिताका है, और नैयायिकादिकोंका मन्तव्य ऐसा है कि स्पर्शनादिकी तरह चक्षु भी प्राप्यकारी ही है. वाचकजीने तो साफ कह दिया कि चक्षु और मन ये दोनों ही अप्राप्यकारी हैं, और स्पर्शनादि चार प्राप्यकारी ही हैं।

६ दूसरे दर्शनकारोंने पिटक और वेदादिके लिए प्रामाणिकताका नाद चलाया था, तब वाचकजीने श्रुतके अधिकारमें आचारांगादिक अंग और तद्व्यतिरिक्त आर्हतवचनोंकी प्रामाणिकता प्रतिष्ठित की।

७ दूसरे दर्शनकारोंने विपर्यास और संशयादिकको मिथ्याज्ञान और अज्ञानशब्दसे पुकारा है, तब वाचकजीने जिसकी धारणा पदार्थोंके लिए यथास्थित नहीं है और सदसत्के जो एकान्तवादी हैं इन सभीका बोध अज्ञान ही है, ऐसा दिखाया है. याने पवित्रमन्तव्यको मान्य करनेवाले मनुष्यके संशय विपर्यासवाले ज्ञानसे भी पवित्रपदार्थको नहीं माननेवालेकी अकल या शास्त्रीयप्रवीणता उन्मार्गकाही वर्धन करानेवाली है, इतना ही नहीं, बल्कि वैसेको किसी पौद्गलिकपदार्थका अतींद्रिय ऐसा विभंगज्ञान भी हो जाय तब भी वह ज्ञान उस महात्माको और उसके उपासकोंको संसारकी ओर गिराने

वाला है. यह सब विवरण दर्शनकारोंके प्रचारके प्रभावसे ही ज़्यादा हुवा है।

८ सूत्रकारोंने सूत्रकी व्याख्या करते समझे हुए पदार्थको अच्छीतरहसे समझानेके लिए नयोंकी जरूरत मानी थी, और इसीसे नयका अधिकार अनुगमके अनन्तर रक्खा था, और 'नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व जिणमए किंची' ऐसा कहके समग्र जिनवचनमें नयकी व्यापकता दिखाई थी, तब वाचकजीने समग्रपदार्थके ज्ञानमें उन नयोंकी प्रारंभसेही उपयोगिता दिखाके प्रमाणकी तरह नय भी पदार्थअवबोधका मुख्य हेतु है ऐसा दिखाया है।